विवेक ज्योति

रामकृष्ण संघ
शताब्दी विशेषांक

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
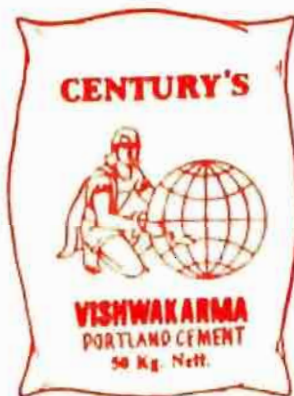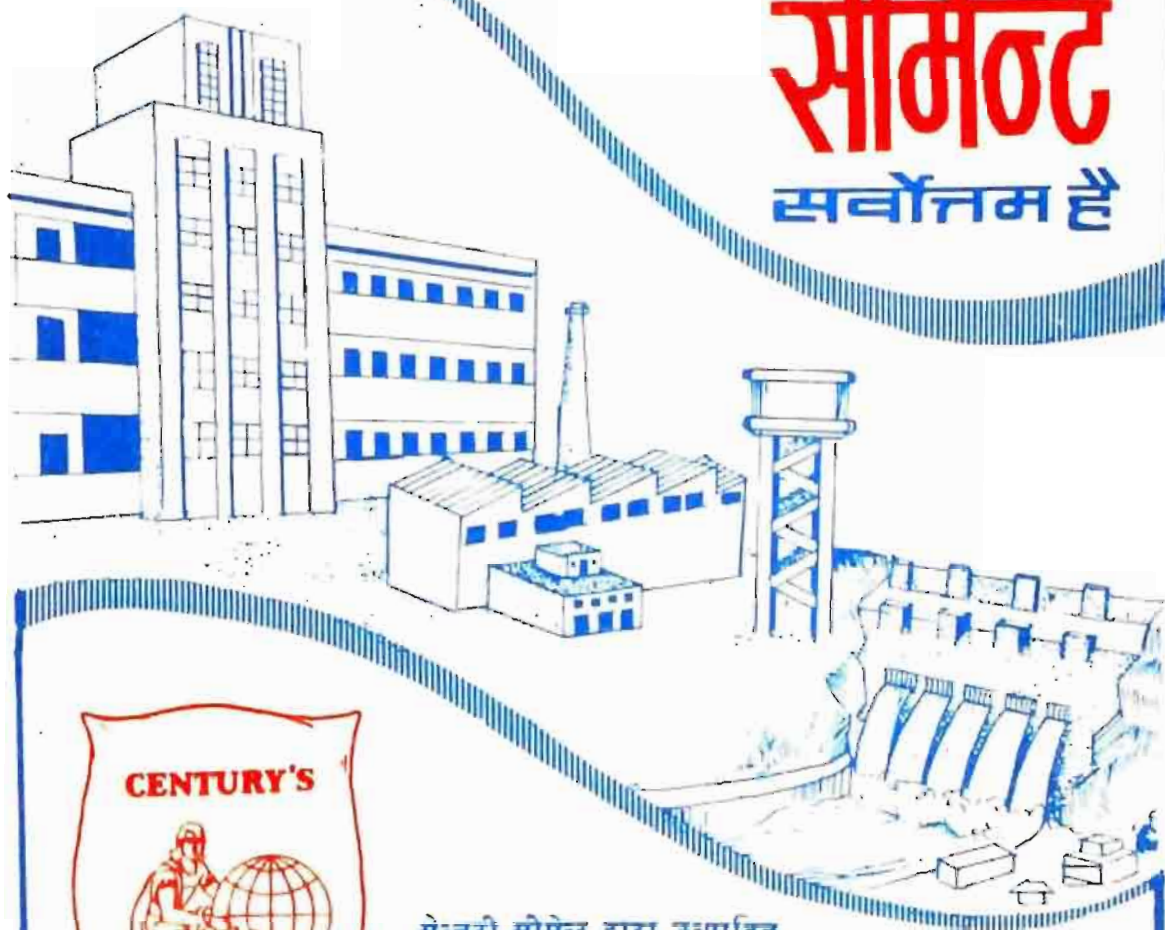
हिन्दी त्रैमासिक

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण संघ

शताब्दी विशेषांक

जुलाई-अगस्त-सितम्बर
* १९८६ *

सम्पादक एवं प्रकाशक
स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक ८)

एक प्रति २।।)

इस विशेषांक का मूल्य—५)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)—१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर—४९२००१ (म.प्र.)
दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

कवर चित्र परिचय : **स्वामी विवेकानन्द** (अमेरिका में)

मुद्रण स्थल : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर-४५२००९ (म.प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २४] जुलाई-अगस्त-सितम्बर ★ १९८६ ★ [अंक ३

हम श्रीरामकृष्ण के दास हैं !

कुर्मस्तारकचर्वणं त्रिभुवनमुत्पाटयामो बलात् ।
किं भो न विजानास्यस्मान् रामकृष्णदासा वयम् ।।

---हम लोग तारों को चूर-चूर कर डालेंगे और त्रिभुवन को उखाड़ देंगे । क्या नहीं जानते कि हम कौन हैं ? हम श्रीरामकृष्ण के दास हैं !

---स्वामी विवेकानन्द

यह अंक

आपकी सेवा में यह जो अंक जा रहा है, वह विशेषांक है। रामकृष्ण संघ के जीवन से सम्बन्धित कई महत्त्वपूर्ण घटनाओं का संयोग इस अवधि में घट रहा है। १२ मार्च १९८६ को भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के आविर्भाव के १५० वर्ष पूरे होकर उनकी १५१वीं जन्मतिथि विश्वभर में मनायी गयी है। १५ अगस्त १९८६ को उनके महानिर्वाण के १०० वर्ष पूरे हो रहे हैं। फिर १९८६ में रामकृष्ण संघ की स्थापना के भी १०० वर्ष पूरे हो रहे हैं तथा वराहनगर में प्रथम रामकृष्ण मठ की स्थापना की शताब्दी भी १९८६ में ही मनायी जा रही है। इस शताब्दीत्रय-धन्य कालावधि के स्मृतिस्वरूप यह अंक विशेषांक के रूप से निकाला गया है। इसमें श्रीरामकृष्णदेव तथा उनके संघ के सम्बन्ध में प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण जानकारी देनेवाले कई लेख प्रकाशित किये गये हैं, जो मनीषी अनुसन्धानकर्ताओं की लेखनी से निकले हैं। हम इन सभी विद्वान् लेखकों के आभारी हैं तथा उन स्रोतों के भी, जहाँ से ये लेख लिये गये हैं। इन सबका साभार उल्लेख हमने उन लेखों में किया है।

ये लेख समान विषयों पर होने के कारण कहीं कहीं कुछ पुनरुक्तियाँ आ गयी हैं, पर सुधी पाठक ऐसे अंशों का भी, विशिष्ट सन्दर्भों के कारण, आनन्द ले लेंगे यही हमारा विश्वास और निवेदन है।

——सम्पादक

○

अग्नि-मंत्र

(स्वामी शिवानन्द को लिखित)

संयुक्त राज्य अमेरिका,
१८९४

प्रिय शिवानन्द,

तुम्हारा पत्र अभी मिला । कदाचित् तुम्हें मेरे पहले के पत्र मिल चुके होंगे और तुम्हें मालूम हो गया होगा कि और कुछ सामान अमेरिका भेजने की कोई आवश्यकता नहीं है । अति सर्वत्र वर्जयेत् । समाचार-पत्रों के इस हो-हल्ले ने निःसन्देह मुझे प्रसिद्ध कर दिया है, परन्तु इसका प्रभाव भारत में अधिक है, और यहाँ कम । इसके विपरीत निरन्तर समाचारपत्रों की गरम-बाजारी से ऊँचे वर्ग के मनुष्यों के मन में एक अरुचि-सी पैदा हो जाती है, अतः जितना हुआ, वही पर्याप्त है । अब तुम भारत में इन सभाओं के ढंग पर अपने आपको संगठित करने की चेष्टा करो । इस देश में तुम्हें कुछ और भेजने की आवश्यकता नहीं । धन के बिषय में बात यह है कि मैंने परम पूजनीय माताजी के लिए मकान बनाने का संकल्प कर लिया है, क्योंकि महिलाओं को उसकी पहले आवश्यकता है. . .। माँ के स्थान के लिए मैं लगभग ७००० रुपये भेज सकता हूँ। यदि वह पहले हो जाय, तो मुझे किसी बात की चिन्ता नहीं । मुझे आशा है कि इस देश से जाने के बाद भी मुझे १६०० रुपये प्रतिवर्ष मिलते रहेंगे। वह रुपया मैं माताओं के

स्थान के लिए रखूँगा, इससे कार्य आगे बढ़ता जायगा। मैंने तुम्हें जमीन के बारे में पहले ही लिखा है।

मैं इससे पहले ही भारत लौट आता, परन्तु भारत में धन नहीं है। सहस्रों लोग श्रीरामकृष्ण परमहंस का आदर करते हैं, परन्तु कोई फूटी कौड़ी भी नहीं देगा—यह है भारत! यहाँ लोगों के पास धन है और वे लोग दान भी करते हैं। अगले जाड़े तक मैं भारत आ जाऊँगा। तब तक तुम लोग मिल-जुलकर रहो।

संसार सिद्धान्तों की कुछ भी परवाह नहीं करता। वह व्यक्तियों को ही मानता है। जो व्यक्ति उन्हें प्रिय होगा, उसके वचन वे शान्ति से सुनेंगे, चाहे वे कैसे ही निरर्थक हों; परन्तु जो मनुष्य उन्हें अप्रिय होगा, उसके वचन नहीं सुनेंगे। इस पर विचार करो और अपने आचरण में तदनुसार परिवर्तन करो। सब बातें ठीक हो जाएँगी। यदि तुम शासक बनना चाहते हो, तो सबके दास बनो। यही सच्चा रहस्य है। तुम्हारे वचन यदि कठोर भी होंगे, तब भी तुम्हारा प्रेम अपना प्रभाव दिखाएगा। मनुष्य प्रेम को पहचानता है, चाहे वह किसी भी भाषा में व्यक्त हुआ हो।

मेरे प्यारे भाई, श्रीरामकृष्ण परमहंस ईश्वर के अवतार थे, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है। परन्तु उनकी शिक्षाओं की सत्यता लोगों को स्वयं देखने दो,—ये चीजें तुम उन पर थोप नहीं सकते—और यही मेरी आपत्ति है।

लोगों को अपना मत प्रकट करने दो। हम इसमें क्यों आपत्ति करें? श्रीरामकृष्ण परमहंस का अध्ययन

किये बिना वेद-वेदान्त, भागवत और अन्य पुराणों का महत्त्व समझना असम्भव है। उनका जीवन भारतीय धार्मिक विचार-समूह के लिए एक अनन्त शक्तिसम्पन्न सर्चलाइट है। वेदों के और उनके ध्येय के वे जीवित भाष्य हैं। भारत के जातीय धार्मिक जीवन का एक समग्र कल्प उन्होंने एक जीवन में पूरा कर दिया था।

भगवान् श्रीकृष्ण का कभी जन्म हुआ था या नहीं यह मुझे नहीं मालूम, और बुद्ध, चैतन्य आदि अवतार एकदेशीय हैं; पर श्रीरामकृष्ण परमहंस सबकी अपेक्षा आधुनिक और सबसे पूर्ण हैं––ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, उदारता और लोकहित के मूर्तिमान् स्वरूप हैं। किसी दूसरे के साथ क्या उनकी तुलना हो सकती है? जो उनके गुणों का आदर नहीं कर सकता है, उसका जीवन व्यर्थ है। मैं परम भाग्यशाली हूँ कि मैं जन्म-जन्मान्तर से उनका दास रहा हूँ। उनका एक शब्द भी मेरे लिए वेद-वेदान्त से अधिक मूल्यवान् है। 'तस्य दासदासदासोऽहम्' ––अरे, मैं तो उनके दासों के दासों का दास हूँ। किन्तु क्षुद्र संकीर्णता उनके सिद्धान्तों के विरुद्ध है, उसी से मुझे दुःख होता है। उनका नाम चाहे विस्मृत हो जाय, परन्तु उनकी शिक्षा फलप्रद हो! नहीं तो क्या वे नाम के दास थे? चन्द मछुओं और बेपढ़ों ने ईसा मसीह को ईश्वर कहा था, परन्तु शिक्षित लोगों ने उन्हें मार डाला; अपने जीवन-काल में बुद्धदेव ने बहुत से व्यापारियों और ग्वालों से सम्मान पाया; परन्तु श्रीरामकृष्ण अपने जीवन-काल में पूजे गये थे––इसी उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में––विश्वविद्यालय के असाधारण योग्यताप्राप्त विद्वानों ने उन्हें ईश्वर का अवतार माना।... (कृष्ण,

बुद्ध, ईसा आदि) के विषय में केवल थोड़ी सी बातें लिखी गयी हैं। बंगाली कहावत है कि 'जिसके साथ हम कभी नहीं रहे हैं, वह व्यक्ति अवश्य ही उत्तम गृहस्वामी होगा'। परन्तु ये तो एक ऐसे महापुरुष हैं, जिनको संगति में हम दिन-रात रहे हैं और फिर भी हम इनका व्यक्तित्व उन सबसे बढ़ा-चढ़ा मानते हैं। क्या तुम इस अद्‌भुत व्यापार को समझ सकते हो?

'माँ' के जीवन का विलक्षण महत्त्व तुम लोग अभी नहीं समझ सके हो—तुममें से एक भी नहीं। किन्तु धीरे-धीरे तुम जानोगे। शक्ति के बिना संसार का उद्धार नहीं हो सकता। क्या कारण है कि संसार के सब देशों में हमारा देश ही सबसे अधिक बलहीन और पिछड़ा हुआ है? इसका कारण यही है कि वहाँ शक्ति का निरादर होता है। उस अनुपम शक्ति को भारत में पुनः जाग्रत् करने के लिए माँ का जन्म हुआ है, और उन्हें केन्द्र बनाकर फिर से गार्गी और मैत्रेयी जैसी नारियों का जन्म संसार में होगा। प्रिय भाई, अभी तुम बहुत थोड़ा समझते हो, परन्तु धीरे-धीरे तुम सब जान जाओगे। इसलिए मैं उनका मठ पहले चाहता हूँ।... शक्ति की कृपा बिना कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। अमेरिका और यूरोप में मैं क्या देखता हूँ?—शक्ति की उपासना। परन्तु अज्ञानवश वे उसकी उपासना इन्द्रिय-भोग द्वारा करते हैं। फिर कल्पना करो कि जो पवित्रतापूर्वक सात्त्विक भाव द्वारा अपनी माता के रूप में उसे पूजेंगे, उनका कितना कल्याण होगा! दिन पर दिन सब बातें मेरी समझ में आती जा रही हैं। मेरी अन्तर्दृष्टि का धीरे-धीरे विकास हो रहा है।

इसलिए हमें माँ का मठ पहले बनाना चाहिए। पहले माँ और उनकी पुत्रियाँ, फिर पिता और उनके पुत्र—क्या तुम यह समझ सकते हो ?...मेरे लिए माँ की कृपा पिता की कृपा से लाखोंगुनी अधिक मूल्यवान् है। माँ की कृपा, माँ का आशीष मेरे लिए सर्वोपरि है।...कृपया मुझे क्षमा करो, मैं माँ के विषय में कुछ कट्टर हूँ। यदि माँ की आज्ञा हो, तो उनके भूत कुछ भी काम कर सकते हैं। अमेरिका के लिए प्रस्थान करने से पहले मैंने माँ को लिखा था कि वे मुझे आशीर्वाद दें। उनका आशीर्वाद आया और एक ही छलाँग में मैंने समुद्र पार कर लिया। देखा तुमने ! इस विकट शीतकाल में मैं स्थान स्थान पर भाषण कर रहा हूँ और विषम बाधाओं से लड़ रहा हूँ, जिससे कि माँ के मठ के लिए कुछ धन एकत्र हो सके...। निरंजन लड़ाकू स्वभाव का है, परन्तु माँ के लिए उसके मन में बड़ी भक्ति है, और उसकी प्रत्येक झक को मैं सहन कर सकता हूँ। वह अब बहुत ही अद्भुत कार्य कर रहा है। मैं सब खबर रखता हूँ। और तुमने भी मद्रासियों के साथ सहयोग करके बहुत अच्छा किया। प्रिय भाई, मुझे तुमसे बड़ी आशा है। तुम सबको साथ मिलकर काम करने के लिए संगठित करो। जैसे ही तुम माँ के लिए जमीन ले लोगे, मैं सीधा भारत के लिए चल दूँगा। वह एक बड़ा प्लाट होना चाहिए। शुरू में चाहे मिट्टी का घर ही रहे, समय पर मैं उसे सुन्दर भवन बनवा दूँगा, चिन्ता न करो।

मलेरिया का मुख्य कारण पानी होता है। क्यों नहीं तुम दो-तीन फिल्टर बनाते ? यदि तुम पहले पानी को

उबालोगे और फिर छान लोगे, तो वह हानिकारक न रहेगा . . . । कृपा करके दो बड़े 'पास्ट्यूर' फिल्टर मोल ले लो, जो कीटाणुओं से सुरक्षित हों । उसी में खाना पकाओ और पीने के काम में लाओ, मलेरिया का कभी नाम भी न सुनाई पड़ेगा . . . । आगे बढ़ो, आगे बढ़ो; काम काम, काम--अभी तो काम का आरम्भ ही है ।

सदैव तुम्हारा,
विवेकानन्द

○

"रामकृष्ण परमहंस के जीवन की कहानी आचरण में उतरे हुए धर्म की कहानी है । उनका जीवन हमें ईश्वर को आमने-सामने देखने में समर्थ बनाता है। कोई भी उनके जीवन की गाथा को पढ़कर यह विश्वास किये बिना नहीं रह सकता कि एकमात्र ईश्वर ही सत्य है और शेष सब भ्रम है। रामकृष्ण ईश्वरत्व के जीवन्त विग्रह थे। उनके मुख से निकले वचन मात्र किसी पण्डित के नहीं हैं अपितु 'जीवन की किताब' के पृष्ठ हैं। वे उनकी स्वयं की अनुभूतियों के बहिःप्रकाश हैं । . . ."

—महात्मा गाँधी

हिन्दू धर्म और श्रीरामकृष्ण

स्वामी विवेकानन्द

(रामकृष्ण संघ की बँगला मासिकी 'उद्‌बोधन' के लिए स्वामीजी द्वारा लिखा गया प्रबन्ध। यह अनुवाद अद्वैत आश्रम, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित 'विवेकानन्द साहित्य' से साभार गृहीत हुआ है।--स०)

शास्त्र शब्द से अनादि अनन्त 'वेद' का तात्पर्य है। धार्मिक व्यवस्थाओं में मतभेद होने पर एकमात्र वेद ही सर्वमान्य प्रमाण है।

पुराणादि अन्य धर्मग्रन्थों को स्मृति कहते हैं। ये भी प्रमाण में ग्रहण किये जाते हैं, किन्तु तभी तक, जब तक वे श्रुति के अनुकूल कहें, अन्यथा नहीं।

'सत्य' के दो भेद हैं: पहला, जो मनुष्य की पंचेन्द्रियों से एवं तदाश्रित अनुमान से ग्रहण किया जाय, और दूसरा, जो अतीन्द्रिय सूक्ष्म योगज शक्ति द्वारा ग्रहण किया जाय। प्रथम उपाय से संकलित ज्ञान को 'विज्ञान' कहते हैं और दूसरे प्रकार से संकलित ज्ञान को 'वेद' कहते हैं।

अनादि अनन्त अलौकिक वेद-नामधारी ज्ञानराशि सदा विद्यमान है। सृष्टिकर्ता स्वयं इसी की सहायता से इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और उसका नाश करता है।

यह अतीन्द्रिय शक्ति जिनमें आविर्भूत तथा प्रकाशित होती है, उनका नाम ऋषि है, और उस शक्ति के द्वारा वे जिस अलौकिक सत्य की उपलब्धि करते हैं, उसका नाम 'वेद' है।

इस ऋषित्व और वेद-दृष्टि का लाभ करना ही यथार्थ धर्मानुभूति है। जब तक यह प्राप्त न हो, तब तक

'धर्म' केवल बात की बात है, और यही मानना पड़ेगा कि धर्मराज्य की प्रथम सीढ़ी पर भी हमने पैर नहीं रखा ।

समस्त देश, काल और पात्र में व्याप्त होने के कारण वेद का शासन अर्थात् वेद का प्रभाव देशविशेष. काल-विशेष अथवा पात्रविशेष तक सीमित नहीं ।

सार्वजनिक धर्म की व्याख्या करनेवाला एकमात्र वेद ही है ।

अलौकिक ज्ञानप्राप्ति का साधन यद्यपि हमारे देश के इतिहास-पुराणादि और म्लेच्छादि देशों की धर्म-पुस्तकों में थोड़ा-बहुत अवश्य वर्तमान है, फिर भी अलौकिक ज्ञानराशि का सर्वप्रथम पूर्ण और अविकृत संग्रह होने के कारण, आर्यजाति में प्रसिद्ध, 'वेद' नामधारी, चार भागों में विभक्त अक्षर-समूह ही सब प्रकार से सर्वोच्च स्थान का अधिकारी है, समस्त जगत् का पूजार्ह तथा आर्य एवं म्लेच्छ सबके धर्मग्रन्थों की प्रमाणभूमि है ।

आर्यजाति द्वारा आविष्कृत उक्त 'वेद' नामक शब्दराशि के सम्बन्ध में यह भी जान लेना होगा कि उसका जो अंश लौकिक, अर्थवाद अथवा इतिहास सम्बन्धी बातों की विवेचना नहीं करता, वही अंश वेद है ।

ये वेद ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड दो भागों में विभक्त हैं । कर्मकाण्ड में वर्णित क्रिया और उसके फल माया-धिकृत जगत् में ही सीमित होने के कारण देश, काल और पात्र के अधीन होकर परिवर्तित हुए हैं, होते हैं तथा होते रहेंगे । सामाजिक रीति-नीति भी इसी

कर्मकाण्ड के ऊपर प्रतिष्ठित है; इसलिए समय-समय पर इसका भी परिवर्तन होता रहा है और होता रहेगा। लोकाचार यदि सत्-शास्त्र और सदाचार के प्रतिकूल न हो; तो वह भी मान्य है। सत्-शास्त्रनिन्दित और सदाचार-विरोधी लोकाचार के अधीन हो जाना ही आर्यजाति के अधःपतन का एक प्रधान कारण है।

निष्काम कर्म, योग, भक्ति और ज्ञान की सहायता से मुक्ति दिलानेवाला होने के कारण तथा मायारूपी समुद्र को पार कराने में नेता के पद पर प्रतिष्ठित और देश-काल-पात्र आदि के द्वारा अप्रतिहत होने के कारण ज्ञानकाण्ड अथवा वेदान्त भाग ही सार्वलौकिक, सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक धर्म का एकमात्र उपदेष्टा है।

मन्वादि शास्त्रों ने कर्मकाण्ड का आश्रय ग्रहण कर देश-काल-पात्र भेद से मुख्यतः समाज का कल्याण करनेवाले कर्मों की शिक्षा दी है। पुराणों ने वेदान्त के छिपे तत्त्वों को प्रकाश में लाकर, अवतारादि महान् चरित्रों का वर्णन करते हुए इन तत्त्वों की विस्तृत व्याख्या की है, और उनमें से प्रत्येक ने अनन्त भावमय भगवान् के किसी एक भाव को प्रधान मानकर उसी का उपदेश दिया है।

किन्तु जब कालवश सदाचारभ्रष्ट, वैराग्यहीन, एकमात्र लोकाचारनिष्ठ और क्षीणबुद्धि आर्यसन्तान इन सब भावविशेषों की विशेष शिक्षा के लिए अवस्थित, आपात-विरोधी दिखनेवाले एवं अल्पबुद्धि मनुष्यों के लिए विस्तृत भाषा में स्थूल रूप से वैदान्तिक सूक्ष्म तत्त्वों का प्रचार करनेवाले इन पुराणादि तन्त्रों में वर्णित मर्मों को भी ग्रहण करने में असमर्थ हो गयी —

और, इसके फलस्वरूप, जिस समय उसने अनन्त भावसमष्टि अखण्ड सनातन धर्म को शत-शत खण्डों में विभक्त कर, साम्प्रदायिक ईर्ष्या और क्रोध की ज्वाला को प्रज्वलित कर उसमें परस्पर की आहुति देने की सतत चेष्टा करते हुए इस धर्मभूमि भारत को प्रायः नरकभूमि में परिणत कर दिया,—उस समय, आर्यजाति का प्रकृत धर्म क्या है और सतत विवदमान, आपातप्रतीयमान अनेकशः विभक्त, सर्वथा प्रतिद्वन्द्वी आचारयुक्त सम्प्रदायों से घिरे, स्वदेशियों का भ्रान्ति-स्थान एवं विदेशियों का घृणास्पद हिन्दू धर्म नामक युग-युगान्तरव्यापी विखण्डित एवं देश-काल के योग से इधर-उधर बिखरे हुए धर्मखण्ड-समष्टि के बीच यथार्थ एकता कहाँ है, यह दिखलाने के लिए—तथा कालवश नष्ट इस सनातन धर्म का सार्वलौकिक, सार्वकालिक और सार्वदेशिक स्वरूप अपने जीवन में निहित कर, संसार के सम्मुख सनातन धर्म के सजीव उदाहरणस्वरूप अपने को प्रदर्शित करते हुए लोक-कल्याण के लिए श्रीभगवान् रामकृष्ण अवतीर्ण हुए।

सृष्टि, स्थिति और लयकर्ता के अनादि-वर्तमान सहयोगी शास्त्र संस्कार-रहित ऋषि-हृदय में किस प्रकार प्रकाशित होते हैं, यह दिखलाने के लिए और इसलिए कि इस प्रकार से शास्त्रों के प्रमाणित होने पर धर्म का पुनरुद्धार, पुनःस्थापन और पुनःप्रचार होगा, वेदमूर्ति भगवान् ने अपने इस नूतन रूप में बाह्य शिक्षा की प्रायः सम्पूर्ण रूप से उपेक्षा की है।

वेद अर्थात् प्रकृत धर्म की और ब्राह्मणत्व अर्थात् धर्मशिक्षा के तत्त्व की रक्षा के लिए भगवान् बारम्बार

शरीर धारण करते हैं, यह तो स्मृति आदि में प्रसिद्ध ही है।

ऊपर से गिरनेवाली नदी की जलराशि अधिक वेगवती होती है; पुनरुत्थित तरंग अधिक ऊँची होती है। उसी प्रकार प्रत्येक पतन के बाद आर्यजाति भी श्रीभगवान् के करुणापूर्ण नियन्त्रण में नीरोग होकर पूर्वापेक्षा अधिक यशस्वी और वीर्यवान् हुई है—इतिहास इस बात का साक्षी है।

प्रत्येक पतन के बाद पुनरुत्थित समाज अन्तर्निहित सनातन पूर्णत्व को और भी अधिक प्रकाशित करता है; और सर्वभूतों में अवस्थित अन्तर्यामी प्रभु भी अपने स्वरूप को प्रत्येक अवतार में अधिकाधिक अभिव्यक्त करते हैं।

बार-बार यह भारतभूमि मूर्च्छापन्न अर्थात् धर्मलुप्त हुई है और बारम्बार भारत के भगवान् ने अपने आविर्भाव द्वारा इसे पुनरुज्जीवित किया है।

किन्तु अब समाप्तप्राय इस वर्तमान गम्भीर विषादरात्रि के समान और किसी भी अमानिशा ने अब तक इस पुण्यभूमि को आच्छन्न नहीं किया था। इस पतन की गहराई के सामने पहले के सब पतन गोष्पद के समान जान पड़ते हैं।

इसीलिए इस प्रबोधन की समुज्ज्वलता के सम्मुख पूर्व युग के समस्त उत्थान उसी प्रकार महिमाविहीन हो जाएँगे, जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश के सामने तारागण। और इस पुनरुत्थान के महावीर्य की तुलना में प्राचीन काल के समस्त उत्थान बालकेलि से जान पड़ेंगे।

सनातन धर्म के समस्त भाव-समूह अपनी इस पतनावस्था में, अधिकारी के अभाव से, अब तक इधर-उधर छिन्न-भिन्न होकर पड़े हैं—कुछ तो छोटे-छोटे सम्प्रदायों के रूप में और शेष सब लुप्तावस्था में।

किन्तु आज, इस नव उत्थान में नवीन बल से बली मानव-सन्तान विखण्डित और बिखरी हुई अध्यात्म विद्या को एकत्र कर उसकी धारणा और अभ्यास करने में समर्थ होगी तथा लुप्त विद्या के भी पुनः आविष्कार में सक्षम होगी। इसके प्रथम निदर्शनस्वरूप परम कारुणिक श्रीभगवान् पूर्व सभी युगों की अपेक्षा अधिक पूर्णता प्रदर्शित करते हुए, सर्वभाव-समन्वित एवं सर्वविद्यायुक्त होकर युगावतार के रूप में अवतीर्ण हुए हैं।

इसीलिए इस महायुग के उषाकाल में सभी भावों का मिलन प्रचारित हो रहा है, और यही असीम अनन्त भाव, जो सनातन शास्त्र और धर्म में निहित होते हुए भी अब तक छिपा हुआ था, पुनः आविष्कृत होकर उच्च स्वर से जनसमाज में उद्घोषित हो रहा है।

यह नव युगधर्म समस्त जगत् के लिए, विशेषतः भारत के लिए, महाकल्याणकारी है; और इस युगधर्म के प्रवर्तक श्रीभगवान रामकृष्ण पहले के समस्त युगधर्म-प्रवर्तकों के पुनःसंस्कृत प्रकाश हैं। हे मानव, इस पर विश्वास करो और इसे हृदय में धारण करो।

मृत व्यक्ति फिर से नहीं जीता। बीती हुई रात फिर से नहीं आती। विगत उच्छ्वास फिर नहीं लौटता। जीव दो बार एक ही देह धारण नहीं करता। हे मानव, मुर्दे की पूजा करने के बदले हम जीवित की पूजा के लिए

तुम्हारा आह्वान करते हैं; बीती हुई बातों पर माथा-पच्ची करने के बदले हम तुम्हें प्रस्तुत प्रयत्न के लिए बुलाते हैं। मिटे हुए मार्ग के खोजने में व्यर्थ शक्ति-क्षय करने के बदले अभी बनाये हुए प्रशस्त और सन्निकट पथ पर चलने के लिए आह्वान करते हैं। बुद्धिमान् समझ लो!

जिस शक्ति के उन्मेष मात्र से दिग्दिगन्तव्यापी प्रतिध्वनि जाग्रत् हुई है, उसकी पूर्णावस्था का कल्पना से अनुभव करो; और व्यर्थ सन्देह, दुर्बलता और दास-जाति-सुलभ ईर्ष्या-द्वेष का परित्याग कर, इस महायुग-चक्र-प्रवर्तन में सहायक बनो।

हम प्रभु के दास हैं, प्रभु के पुत्र हैं, प्रभु की लीला के सहायक हैं––यही विश्वास दृढ़ कर कार्यक्षेत्र में उतर पड़ो।

०

(श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में)

अद्‌भुत उपदेश हैं! . . . विलक्षण सन्त हैं।

—लियो टाल्सटाय

विविध रूपों में श्रीरामकृष्ण

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन के वरिष्ठ उपाध्यक्ष हैं। काशीपुर उद्यानभवन में २ जनवरी १९८४ को 'कल्पतरु उत्सव' के उपलक्ष में जो धर्मसभा आयोजित हुई थी, उसमें उनके द्वारा दिये गये भाषण से प्रस्तुत लेख लिया गया है । मूल लेख 'उद्‌बोधन' बँगला मासिक के सितम्बर १९८५ अंक में प्रकाशित हुआ था, जहाँ से यह साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है। अनुवादक हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक है।---स०)

ठाकुर की बातें चिरपुरातन हैं, साथ भी नूतन भी। 'पुराण' शब्द का अर्थ किया जाता है–'पुरापि नव एव'–– प्राचीन होते हुए भी नूतन। तत्त्व तो प्राचीन हैं, लेकिन जब भी हम सुनते हैं, चर्चा करते हैं, तो वे हमारे सामने मानो नये रूप में प्रतिभासित होते हैं। इसी प्रकार श्रीरामकृष्ण का माधुर्य इतना प्रगाढ़ है कि जब भी उस माधुर्य का आस्वादन किया जाता है, वह नया ही लगता है। उस पुराणपुरुष ने अपने को कई बार भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट किया है। इस युग में उसका जो प्राकट्य श्रीरामकृष्ण के रूप में हुआ है, उसी की चर्चा इस समय देश-देशान्तर में चल रही है। हम उसके भीतर मानो एक ऐसे नये प्रकाश को देख पाते हैं, जो दीर्घ विस्मृति के अन्धकार को भेदकर नयी चेतना का संचार करते हुए हमें जगा दे रहा है।

श्रीरामकृष्ण आये थे हमारे लिए––हम जो मोहनिद्रा में पड़े हुए हैं, अपने को भूले हुए हैं, हम जो जीवन के लक्ष्य को नहीं जानते, फिर उस लक्ष्य की प्राप्ति के उपाय की बात तो छोड़ ही दें। श्रीरामकृष्ण तत्त्व की जो सब

बातें कहते हैं, वे नयी नहीं हैं, अनेक शास्त्रों में कई बार वे कही गयी हैं, लेकिन बार-बार पढ़ने पर भी उन शास्त्रों का मर्म इस प्रकार से हमें बोधगम्य नहीं होता, चित्त को भी उतना आकृष्ट नहीं करता। यहीं पर अवतार का वैशिष्ट्य है।

भागवत में आता है—एक बार ब्रह्मा श्रीकृष्ण की परीक्षा लेने के लिए उनके सखा ग्वालबालों और बछड़ों को हरकर ले गये। वे देखना चाहते थे कि अब श्रीकृष्ण क्या करते हैं। भगवान् पहले आत्मविस्मृत थे, इसलिए चिन्तित हुए कि ग्वालबाल और बछड़े कहाँ गये? उसके बाद दिव्य दृष्टि से उन्होंने सब देख लिया। मन ही मन थोड़ा हँसकर उन्होंने ग्वालबाल तथा बछड़े ज्यों के त्यों फिर से बना लिये। गोचारण से लौटकर ग्वालबाल अपने अपने घर चले गये तथा बछड़े भी अपनी माँ के पास आ गये। इस प्रकार दिन पर दिन बीतने लगे। उनके व्यवहार में कोई अस्वाभाविकता दिखाई नहीं दी, अन्तर केवल यह दिखा कि बछड़ों के लिए गौएँ अब पहले से अधिक व्याकुल रहतीं और ग्वालबालों के प्रति उनकी माताओं का स्नेह अधिक उमड़ता रहता। इस अन्तर पर अन्य किसी की तो दृष्टि नहीं गयी, पर बलराम ने इसे देख लिया। उन्होंने दिव्य दृष्टि से देख लिया कि ये ग्वालबाल साधारण ग्वालबाल नहीं हैं तथा ये बछड़े भी साधारण बछड़े नहीं हैं, वे सब श्रीकृष्ण के ही एक-एक रूप हैं। आत्मा के प्रति सब जीवों का परम आकर्षण होता है। उस आत्मा ने ही इन ग्वालबालों और बछड़ों का रूप धारण किया था, इसीलिए उनके प्रति गोपियों और गोमाताओं का आकर्षण सौगुना बढ़ गया था। यह जो स्नेह की वृद्धि है, श्रद्धा का

बढ़ जाना है, चेतना का नवजागरण है, यही भगवान् के आविर्भाव का वैशिष्ट्य है। जब वे आते हैं, तब मनुष्य अपने को, अपने परिवेश को एक भिन्न दृष्टि से देखना सीखता है। यह दृष्टि उसके लिए नव चेतना का काम करती है।

श्रीरामकृष्ण की जीवनी पढ़ने पर देखते हैं कि जन्म से ही उनके प्रति आबालवृद्धवनिता सबका एक अपूर्व खिचाव है। यह आकर्षण सबको उनकी ओर खींचता है। 'कृष्ण' शब्द का अर्थ है कर्षण करनेवाला अर्थात् वह जो आकर्षित करे। श्रीरामकृष्ण ठीक ऐसे ही हैं। मनुष्य सबसे अधिक इस आकर्षण को समझता है। बुद्धि के द्वारा जिसे नहीं समझा जा सकता, शास्त्र पढ़कर जिसका पता नहीं मिलता, यहाँ तक कि सदाचारपरायण होने पर भी जिस तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती, वह तत्त्व है भगवान् की वस्तुमहिमा। वे जब आविर्भूत होते हैं, तब लोग अपने अन्तःकरण में उनके प्रति इसी प्रकार का एक स्वाभाविक आकर्षण अनुभव करते हैं। जब हम अपनी सीमित बुद्धि के द्वारा श्रीरामकृष्ण के जीवन के सम्बन्ध में चर्चा करने की चेष्टा करते हैं, तो देखते हैं कि उनके ठीक ठीक स्वरूप को समझना हमारे लिए सम्भव नहीं है, फिर भी इस आकर्षण का अनुभव सभी कर सकते हैं। यह आकर्षण ही हमें उस स्थान पर खींच ले जाता है, जहाँ उनकी चर्चा चल रही हो। ऐसे दृष्टान्त भी कम नहीं कि उनका नाम तक नहीं सुना, फिर भी उनके प्रति आकृष्ट हो गये। पण्डित-मूर्ख, धनी-दरिद्र, ऊँच-नीच के भेद के बिना उनका यह

आकर्षण चारों ओर फैलता जा रहा है। जैसा कि स्वामीजी (विवेकानन्द) ने कहा था —'आचण्डालाप्रतिहतरयो यस्य प्रेमप्रवाहः'—जिनके प्रेम का प्रवाह चण्डाल तक सबके लिए अबाध रूप से उमड़ रहा है।

इसी काशीपुर उद्यान में ठाकुर ने अपने कुछ भक्तों से कहा था, "तुम्हें चैतन्य हो"। उनका यह आशीर्वचन केवल उन भक्तों के लिए नहीं था, जो उस समय वहाँ उपस्थित थे, अपितु जो जहाँ हैं, सबके लिए है। यहाँ तक कि जो अभी नहीं आये हैं, उनके लिए भी है। सबके लिए उनका यह आशीर्वाद है—"चैतन्य हो"।

हमें ऐसा लगता है कि 'चैतन्य हो' इस बात को कुछ गम्भीरता से समझना होगा। किस बात का चैतन्य? हम जड़ तो हैं नहीं, चेतन ही हैं, और चेतन का धर्म ही चैतन्य है। तब फिर से 'चैतन्य हो' क्यों कहते हैं?—इसलिए कि आज हमारी चेतना निम्नगामी है। कभी वह हमारे शरीर के साथ संयुक्त रहती है, तो कभी इन्द्रियों के साथ और कभी वक्तव्य विषयों के साथ—इस तरह वह चारों ओर बिखरी हुई है। जब वे प्रार्थना करते हैं या आशीर्वाद देते हैं कि "तुम्हें चैतन्य हो, तो उसका अर्थ यह है कि वे हमारी इस अधोगामी चेतना को ऊर्ध्वगामी कर देना चाहते हैं। हमारा जो चैतन्य बहिर्मुखी है, उसे अन्तर्मुखी करना चाहते हैं, जो चैतन्य भोगप्रवण है, उसे त्यागमय बनाना चाहते हैं, हमारा जो चैतन्य अनात्मा से ओतप्रोत हो गया है, उसे आत्मतत्त्व की ओर आकर्षित करना चाहते हैं। आत्मतत्त्व की ओर

आकृष्ट यह चैतन्य परमकल्याण लाभ करने में मनुष्य का सहायक होगा। हम सब पूछ सकते हैं कि इसके लिए ईश्वर को देह धारण करके आने की क्या आवश्यकता है ? वे तो इच्छा मात्र से जगत् को बदल सकते हैं। वे ऐसा क्यों नहीं करते ? श्रीरामकृष्ण इसका उत्तर यह देंगे कि वे क्या करेंगे, क्या नहीं करेंगे, यह तो उनकी इच्छा पर है। वे लीलामय हैं। यदि सभी का मन बदल जाय, तो आगे लीला नहीं चलेगी। चोर-सिपाही के खेल में यदि कोई चोर बनने को राजी न हो, तो खेल कैसे चलेगा ? इसलिए उसको चोर भी बनना पड़ेगा और पुलिस भी। जब अवतार आते हैं, तब खेल को एक नया रूप दे जाते हैं। जैसा कि ठाकुर कहते हैं——खेलते समय जब कोई लड़का ढाई को नहीं छू पाता, थक जाता है, तब ढाई ही हाथ बढ़ा देती है, जिससे वह बिना परिश्रम किये उसे छू सके। इसी प्रकार हम जो खेल में थके-माँदे लोग हैं, उनके लिए अपना हाथ बढ़ाने के अलावा ईश्वर को और कोई उपाय नहीं है।

इसीलिए मनुष्य को भगवान् के सामीप्य की आवश्यकता है, तथा यह सामीप्य उसे तब मिलता है, जब वह खेल में थकान और असमर्थता का अनुभव करता है। भगवान् हमें साथ लेकर अथवा हमारे होकर यह खेल खेलते हैं। लेकिन खेल ही खेल में वे हमें जता देते हैं कि हम उनसे भिन्न नहीं हैं। कई बार ठाकुर ने अपने अन्तरंग लोगों से कहा है, "तुम लोगों के थोड़ा सा यह जान लेने से ही होगा कि तुम लोग कौन हो, मैं कौन हूँ और मेरे साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध है।" बस इतना ही जना देने के लिए मानो उनका देहधारण करके आना होता है।

यह चलनेवाला खेल बड़ा अद्भुत है, यह तो हम स्थूल दृष्टिसम्पन्न लोग भी समझ सकते हैं। श्रीरामकृष्ण जब आविर्भूत हुए थे, तब मुट्ठीभर लोग ही उनके सान्निध्य में आ सके थे। जो लोग अपनी दृष्टि से उनके निकट थे, वे भी तो उनके सम्बन्ध में उदासीन थे। अतएव उनके खेल का मतलब है अपने साथ के खिलाड़ी चुन लेना। मनपसन्द खिलाड़ी न मिलने से उनका खेल नहीं जमता। इसलिए ठाकुर कहते थे--सिवार का दल, एक को खींचने से सब आ जाते हैं। उसी प्रकार भगवान् जब आते हैं, तब उनके सहचर-खिलाड़ी के रूप में बहुत से लोग आते हैं। वे सब कोई और नहीं, उन्हीं की विभूतियाँ होती हैं। वे ही अनेक रूपों में विभिन्न आधारों के भीतर से अपने आपका आस्वादन करते हैं। जगत् के रूप में यह जो सृष्टि है, वह भी इसीलिए कि बहुत से लोग उनका आस्वादन करेंगे अथवा वे ही बहुतों के भीतर से अपने आपका आस्वादन करेंगे। जैसे उनका माधुर्य अक्षय है, वैसे ही उनका खेल भी अविराम है। पण्डितों द्वारा किये गये गुणविभाग के अनुसार सात्त्विक, राजसिक और तामसिक विविध रूपों में वे अपने आपको फैलाकर खेल रहे हैं। जो दु:ख भोग रहे हैं, वे भी वही हैं, और जो परमतत्त्व का आस्वादन कर आनन्द से परिपूर्ण हो गये हैं, वे भी वही हैं। टिड्डे के पीछे तिनका भोंक देने की दुर्गति भी वे ही सह रहे हैं, फिर सुगति के भोग करनेवाले भी वे ही हैं। लेकिन हमारी परेशानी यह है कि हम अपने आपको उनसे भिन्न ही समझते हैं, इसलिए हमारी यह दुरवस्था हुई है। भगवान् से विमुख हो जो उनसे दूर है, उसका दुर्भाग्य यह है कि वह जगत् के भीतर उनको न

देख जगत् को ईश्वर से भिन्न रूप में देखता है। इसलिए ईश्वर की स्मृति मैली पड़ गयी है। ऐसा क्यों होता है, यह बात 'भागवत' में कही गयी है—तन्मायया——उनकी माया के द्वारा। 'भागवत' में कहते हैं——'तन्माययातो बुध आभजेत् तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा'——(११-२-३७) अर्थात् उनकी माया के द्वारा मनुष्य को अपने स्वरूप की विस्मृति हो गयी है। अतएव ज्ञानी व्यक्ति को चाहिए कि वह गुरु और अपने इष्ट को अपना आत्मस्वरूप मान अनन्य भक्ति के द्वारा भजन करे।

इस तरह श्रीरामकृष्ण का खेल चल रहा है और यह खेल वे कितने रंग-बिरंगे ढंग से,कितनी कुशलता के साथ खेल रहे हैं यह उनकी अन्तरंग टोली को देखने से समझ में आता है। एक ओर उन्होंने स्वामीजी को विराट् व्यक्तित्व देकर गढ़ा, तो दूसरी ओर नाग महाशय को एकदम अहंकारशून्य बनाया। कवि गिरीशचन्द्र काव्यमय शैली में वर्णन करते हैं——'महामाया अपना जाल लेकर स्वामीजी को बाँधने गयी, लेकिन वे इतने बड़े थे कि जाल में समाये ही नहीं, और नाग महाशय इतने छोटे थे कि वे उस जाल में अटके ही नहीं।' ये दो विपरीत पराकाष्ठाएँ हैं। इस प्रकार जाने कितने वैचित्र्यपूर्ण खेल हैं! खिलाड़ियों में भी बड़ा वैचित्र्य है। लगता है कि अभी भी इन सब बातों को भलीभाँति समझने का हमारा समय नहीं हुआ है। अभी तो हम श्रीरामकृष्ण की चर्चा का ही अन्त नहीं पाते, फिर उनके विशाल परिवार के सब लोगों के सम्बन्ध में अभिज्ञता प्राप्त कर लेना हमारे इस सीमित जीवन में कैसे सम्भव होगा? प्रत्येक के भीतर हम अल्पाधिक मात्रा में कुछ न

कुछ विशिष्टता पाते हैं।

ठाकुर के मानसपुत्र स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज (राखाल महाराज) का वैशिष्ट्य था भावतन्मयता। स्वामीजी की विशिष्टता थी तीक्ष्ण बुद्धि---प्रबल विवेक, जिस पर माया अपने प्रभाव का विस्तार नहीं कर सकी। गिरीशचन्द्र का वैशिष्ट्य था अपूर्व विश्वास। लेकिन गिरीश क्या स्वयं गिरीश थे या रामकृष्ण की कृपा से गिरीश हुए ? हम पूर्वोक्त सूत्र के अनुसार समझते हैं कि ये दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। गिरीश के भीतर विश्वासरूप जो धर्म है, उसे प्रकट करने के लिए वे स्वयं गिरीश बने। पहली मुलाकात में ही गिरीश के भीतर उन्होंने उस तत्त्व को देखकर, जो हमारे लिए अज्ञात था, कहा था---यह भैरव का अवतार है। वे वर्तमान के लम्पट शराबी गिरीश को नहीं, अपितु उस भावी गिरीश को देखते हैं, जिसे वे अपने निपुण हाथों से गढ़ेंगे। इसीलिए ठाकुर उनके प्रति ऐसे ऊँचे भाव का पोषण करते हैं। कहते हैं---गिरीश का विश्वास रुपये में बीस आना है, ऐसा विश्वास अन्यत्र नहीं मिलेगा। गिरीश अपने परवर्ती जीवन में कहा करते---उनकी महिमा को यदि समझना चाहते हो तो मुझे देखो, मैं क्या था और क्या हो गया हूँ ! अहंकारशून्य गिरीश स्पष्टरूप से अपनी आत्मकथा कहते। बतलाते कि जो कुछ परिवर्तन हुआ है, वह भगवान् की असीम कृपा से ही हुआ है, यह miracle (चमत्कार) है। अलौकिक घटनाएँ तो जगत् में अनेक घटती हैं, लेकिन गिरीश को लेकर ठाकुर ने जो खेल खेला, वह असाधारण है। गिरीश ने अपने को श्रीरामकृष्ण के हाथों एक यन्त्र के रूप में देखा। वे अपने पहले के अशुद्ध और अपवित्र

रूप को तथा बाद के शुद्ध और पवित्र रूप को देखते हैं और अचरज से गड़ जाते हैं।

केवल गिरीश ही नहीं, स्वामीजी भी अपने बारे में कहते—हम लोगों के समान आधुनिक अँगरेजी शिक्षित अविश्वासी तरुणों के मन को मिट्टी के लोंदे की तरह वे इच्छानुसार तोड़ते और गढ़ते थे, इससे बढ़कर अलौकिक शक्ति का परिचय और क्या हो सकता है? वे कहते—जड़जगत् में परिवर्तन लाना कोई बड़ी बात नहीं है, पर हम जैसे अविश्वासी, संशयी, तर्कप्रिय मन को लेकर वे कैसे खेल खेला करते! इच्छा करने पर वे मुट्ठी भर रास्ते की धूल लेकर लाखों विवेकानन्द गढ़ सकते थे!

हमें अचरज लगता है कि क्या यह सम्भव है? लेकिन स्वामीजी की यह उक्ति अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है, उसमें गुरुभक्ति की अतिशयता नहीं है, क्योंकि स्वामीजी ने ही कहा है कि 'जैसा संघर्ष मैंने उनके साथ किया, वैसा और किसी ने नहीं किया। मैंने जितनी बार उनसे संघर्ष किया, उतनी बार पराजित हुआ हूँ।' इस पराजय की परम्परा के भीतर से अन्ततः जिन विवेकानन्द का निर्माण हुआ, वे कहते हैं कि यदि एक और विवेकानन्द होता, तो वह इस विवेकानन्द को समझ पाता।

हम श्रीरामकृष्णरूपी अनजान वृक्ष को जैसे नहीं पहचानते, उसी प्रकार उसकी शाखा-प्रशाखाओं को भी नहीं पहचानते। वे डाल-पात को लेकर, पार्षद-परिजनों को लेकर जो खेल खेलते हैं, उस खेल को समझने के लिए हम देखेंगे कि प्रत्येक स्थान पर उन लोगों का वैशिष्ट्य बना हुआ है। इन विशिष्टताओं की समष्टि सर्व-

ऐश्वर्यसम्पन्न भगवान् देह धारण कर अवतीर्ण हुए तथा उनका व्यवहार साधारण मानव के समान रहा। 'भागवत' में कहा गया है--हरि मायामनुष्य हैं, अर्थात् माया के द्वारा उन्होंने मनुष्य-शरीर धारण किया है, वे अवतरित हुए हैं। देवकी ने कहा था कि प्रलय के बाद इस विराट् विश्व की सारी वस्तुओं की परस्पर दूरी को बनाये रखते हुए जो इस समग्र विश्व को अपने भीतर धारण करता है, उसी ने अब मेरे गर्भ से जन्म लिया है, यह लोगों के सामने एक विडम्बना है। लोग आखिर कैसे विश्वास करेंगे? यह तो असम्भव घटना है। जो सर्वव्यापी ईश्वर असीम, अनन्त है, वही अब इतने से शिशु के रूप में जन्म लेता है। 'भागवत' में यह सुन्दर बात कही गयी है कि उन्होंने अपना स्वरूप दिखाते हुए जन्म ग्रहण किया, और उसके बाद ही उन्होंने आत्मसंवरण कर लिया, लोगों को भुलावे में डाल दिया। लेकिन इसके बाद भी उनका आकर्षण अबाध बना रहा। भगवान् की लीला ऐसी ही होती है। एक ओर वे ज्ञान देते हैं और दूसरी ओर उस ज्ञान को सामयिक रूप से ढककर आत्मीयजन के रूप में व्यवहार करते हैं। श्रीरामकृष्ण की सन्तानों में यही भाव था। उनमें से किसी ने यह नहीं कहा कि श्रीरामकृष्ण को हमने पहचान लिया है। फिर किसी ने यह भी नहीं कहा कि श्रीरामकृष्ण हमारे लिए अज्ञात हैं, हमारी पहुँच से बाहर एक वस्तु हैं।

जो नास्तिक हैं, ईश्वर को नहीं मानते, भगवान् के सम्बन्ध में उनकी उदासीनता, अवज्ञा का उल्लेख करते हुए 'गीता' में श्रीकृष्ण कहते हैं--

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ।।९/११

--मोहाच्छन्न होकर मनुष्य मेरी अवज्ञा करते हुए मुझे मानवदेहधारी समझता है। 'परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्'--समस्त प्राणियों का जो मैं अधीश्वर और नियन्ता हूँ, मेरे इस परमतत्त्व को वे नहीं जानते। लेकिन जो लोग भगवान् पर विश्वास नहीं करते, वे भी उनके घेरे से बाहर नहीं जा पाते। हम लौकिक विचार से यह समझ सकते हैं कि मनुष्य का आत्मा के प्रति अनुराग स्वभाविक है। वह किसी कारणवश नहीं है। आत्मा को, अपने आपको हम सभी प्यार करते हैं। अन्य वस्तु को भी इसलिए प्यार करते हैं कि वह आत्मा से सम्बन्धित है। अब यह जो आत्मवस्तु आवरण के भीतर से प्रकाशित हो रही है, कई बार आवरण के मोटा हो जाने से वह ठीक दिखाई नहीं पड़ती और हम उसे समझ नहीं पाते। लेकिन न समझ पाने पर भी वह आकर्षण कम प्रबल नहीं होता। यह आत्मतत्त्व सभी को आकर्षित करता है, पर उसके छद्मवेश में रहने के कारण प्रायः हम यह नहीं समझ पाते कि वह आकर्षण कहाँ से आ रहा है। यही कारण है कि भक्त जब बहिर्मुख रहता है, तब भी वह बाह्यवस्तु जो उसे आकर्षित कर रही है, वास्तव में बाह्य नहीं है।

ठाकुर अद्भुत नट हैं। जो जैसा है उसके साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं। गिरीश अवसर ठाकुर के सामने कोई मर्यादा का ख्याल न रख स्वच्छन्द रूप से बातें करते, सब समय भाषा में शालीनता भी न रहती। यह देखकर एक भक्त ने समझा कि शायद ठाकुर इसी तरह का व्यवहार करने से प्रसन्न होते हैं। एक दिन वह ठाकुर के

सामने उसी तरह से व्यवहार करने लगा। ठाकुर समझ गये कि वह गलती कर रहा है। हँसकर बोले——अरे, तेरे लिए ऐसा करना ठीक नहीं। सावधान कर दिया। जिसका जैसा भाव है, उसको उसके अनुसार ही आगे बढ़ाकर ले जाना कोई अन्य नहीं कर सकता। किसी के लिए वे सन्तान हैं, किसी के लिए माता-पिता, किसी के लिए शासक और किसी के लिए मित्र हैं। 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।' ये सब भिन्न-भिन्न प्रकार के साँचे हैं। रँगरेज की कुण्डी में सब रंग घुले रखे हैं——लाल, नीला, पीला, हरा। जो जैसा रंग चाहता है, उसे उसी रंग में रँग देता है और कहता है——यह लो तुम्हारा रंग। ठाकुर इसी तरह कहते हैं——किसे क्या चाहिए, यहाँ आओ, यहाँ पाओगे। एक ने कहा था——आपने कुण्डी में जो रंग घोल रखा है, वही रंग दीजिए। पर यह रंग वे नहीं दे सकते, और देते भी नहीं, क्योंकि जिसको देंगे, वह तुरन्त उनके ही जैसा हो जाएगा, पृथक् नहीं रहेगा। इसीलिए न जाने कितने कितने रंग लेकर वे खेल खेल रहे हैं। स्वामी ब्रह्मानन्द से सम्बन्धित एक दृष्टान्त स्मरण हो आ रहा है। तब वे भुवनेश्वर में थे। सदा आत्मभाव में विभोर रहते। कलकत्ता के नयी रोशनी के तीन युवक ऐसा अभिमान लिये घूमते रहते मानो सबको शिक्षा देने का उनको देवदत्त अधिकार है। वे जिस होटल में ठहरे थे, उसके मालिक से उन्होंने जानना चाहा कि भुवनेश्वर में देखने लायक क्या चीजें हैं। मालिक बोला——लिंगराज है, अमुक अमुक मन्दिर हैं, इत्यादि। उसके बाद उसे याद आया कि देखने लायक एक और वस्तु है——बेलुड़मठ की एक शाखा है, वहाँ एक

साधु हैं, एकदम राजा जैसे। सोने की गुड़गुड़ी में तम्बाकू पीते हैं, और उनका रहन-सहन और आचरण सब राजकीय है। वे तीनों युवक अपने स्वभाव के अनुसार उग्र होकर बोले, "आप लोग उनको कुछ सबक नहीं सिखाते?" "अरे भाई, कितने बड़े-बड़े आदमी उनके पीछे हैं, हम भला कैसे उनको सबक सिखाएँगे?" "अच्छा ठहरिए, हम एक बार देख आते हैं।" वे जिस समय मठ में पहुँचे, महाराज बैठक में कुछ सेवकों के साथ गपशप कर रहे थे। आगन्तुकों को देख तुरन्त उन्होंने सेवकों से कहा——तुम लोग भीतर चले जाओ और भीतर की ओर के सारे दरवाजे बन्द कर लो। सेवकों को बड़ा आश्चर्य हुआ, सोचने लगे कि महाराज ने हम लोगों को क्यों भगा दिया। उन लोगों ने सुना कि महाराज के कमरे से हँसी के ठहाके उठ रहे हैं। कुछ देर बाद युवकों के बिदा लेने पर महाराज ने दरवाजा खोलने के लिए कहा। बात हुई यह कि वे लोग महाराज को सबक सिखाने आये थे। महाराज उनके साथ धर्म-चर्चा नहीं, केवल हँसी-मजाक करने लगे और वे लोग हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये। उनके होटल में लौट आने पर होटल के मालिक ने पूछा, "कैसे लगे?" वे लोग बोले, "आनन्दमय पुरुष को देखा।" इतना अभिमान, अहंकार और उद्दण्डता लेकर वे गये थे, पर उनके आनन्दमय रूप को देखकर उनका मन शान्त हो गया। ये हैं ठाकुर की सन्तान, इनके भीतर उन्हीं की विभूति है, उनका ही प्रकाश है।

ठाकुर के पास जब कोई आता, तब वे कई प्रकार से उसकी परीक्षा करते। उससे प्रश्न करके, उसके चाल-चलन और देह के गठन को देखकर विचार करते। उसके बाद

ऊर्ध्वभूमि पर उठकर भावदृष्टि से उसको देखते, और जिसकी जैसी पात्रता होती, उसको उसी ढंग से आगे ले चलते। ठाकुर की एक बात है, जो उन्होंने स्वामीजी से कही––थी 'देख, किसी का भाव नष्ट नहीं करना चाहिए; जिसका जैसा भाव है उसको वैसे ही आगे बढ़ने के लिए सहायता देनी चाहिए।' स्वामीजी इस उपदेश को कभी नहीं भूले। उन्होंने बार-बार कहा––किसी का कल्याण करने के लिए तुम अपना भाव उस पर थोपो मत। उसको उसके अपने भाव के अनुसार आगे बढ़ने में सहायता करो। प्रत्येक व्यक्ति के पास वे चरमलक्ष्य के रूप में खड़े हैं, लेकिन हर व्यक्ति उन्हें अपनी दृष्टि से देखता है।

सबको लेकर ठाकुर खेल रहे हैं। इतनी गोटियाँ हैं, फिर भी वे ऐसे कुशल खिलाड़ी हैं कि जानते हैं किस गोटी को किस तरह चलना होगा। यह बात ठाकुर ने स्वयं कही है। हम कहते हैं कि उनमें सर्वभावों का समन्वय हुआ है, पर केवल समन्वय ही नहीं, अपितु हर भाव की पराकाष्ठा लोग एकमात्र उनके माध्यम से पा रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति उनको पराकाष्ठा के रूप में, परमलक्ष्य के रूप में, गन्तव्य के रूप में देख रहा है, जैसे कि, उपनिषद् के अनुसार, समुद्र समस्त जलों का एकमात्र गन्तव्य है––'सर्वासाम् अपां समुद्र एकायनम्'।

हमें देखना चाहिए कि किस तरह उनको ग्रहण करने पर हम अपने जीवन में पूर्णता ला सकेंगे। वे सबके लिए सारा भण्डार लेकर मानो बैठे हुए हैं, जिसको जो चाहिए वही देंगे। इसी का संक्षिप्त संस्करण है––"तुम्हें चैतन्य हो"। जिसका स्पर्श करते हैं, उसको अनुभूति होती है। एक दूसरे से तुलना करना यहाँ नहीं बनता। उसका अपना जो लक्ष्य

है, उसकी ओर वह आगे बढ़ जाता है। इसीलिए स्वामी सारदानन्द ने 'लीलाप्रसंग' में कहा है--कल्पतरु का अर्थ यह नहीं कि जो जो चाहता है, उसको वे वही देते हैं बल्कि यह कि जिसको पूर्णत्व की ओर जाने के लिए जो आवश्यक है, उसको वही देते हैं। "चैतन्य हो" उनके इस आशीर्वचन का यही अभिप्राय है।

वह आशीर्वचन आज भी काशीपुर के आकाश में, वायुमण्डल में सर्वदा ध्वनित हो रहा है। इस पुण्यभूमि पर बैठकर आज हमने उनके चरित्र की जो यत्किंचित् चर्चा की है, उससे हमारा जीवन धन्य होगा; हो सकता है हम उनकी कृपा को कुछ अधिकतः समझने में समर्थ होंगे। उनकी कृपा से हम सभी को चैतन्य हो।

○

"रामकृष्ण क्या थे ? मनुष्य के रूप में ईश्वर प्रकाशित; पर पीछे है ईश्वर अपने अनन्त निर्व्यक्तित्व में तथा अपने सार्वभौमिक व्यक्तित्व में।"

—श्री अरविन्द

श्रीरामकृष्णदेव की जीवन-लीला के अन्तिम कुछ दिन

स्वामी प्रभानन्द

(अपनी खोजपूर्ण लेखों के लिए प्रसिद्ध स्वामी प्रभानन्द रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ के एक न्यासी तथा प्रशासी मण्डल के एक सदस्य होते हुए उसके सहायक सचिव हैं। उन्होंने कई स्रोतों से तथ्य संग्रहित कर यह प्रामाणिक लेख 'वेदान्त केसरी' अंगरेजी मासिक के लिए तैयार किया था, जिसके नवम्बर-दिसम्बर १९८५ के अंक से यह साभार गृहीत और अनूदित हुआ है। अनुवादक हैं स्वामी श्रीकरानन्द, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकान्द आश्रम, रायपुर में कार्यरत हैं। --स०)

यह जो कहा जाता है कि श्रीरामकृष्ण की जीवन-गाथा एक दीख पड़नेवाली घटना है, तो यह कथन उनके इस धराधाम पर की गयी लीला के अन्तिम कुछ दिनों को सावधानी से देखने पर और अधिक प्रामाणिक मालूम होता है। वास्तव में उनके अन्तिम कुछ दिन, विशेषकर उनकी जीवन-लीला के पटाक्षेप के दृश्य, जो दर्जनों भक्तों की आँखों के सामने घटे थे, असाधारण और अलौकिक से लगते हैं। बहुत सी घटनाएँ तो युक्तियों को झुठला देती हैं।

श्रीरामकृष्ण दैवी और मानवी प्रकृति के सुखद मिलन-स्वरूप थे, फलत: उन्हें कभी पूरी तरह से समझा नहीं जा सका, यहाँ तक कि उनके समीप रहनेवालों में से भी कई लोग उन्हें ठीक तरह से नहीं समझ पाये। जब उनके गले में गम्भीर व्याधि हो गयी, तब उनके कुछ भक्त अचरज करते कि इतनी दिव्य शक्तियों के रहते हुए भी ठाकुर को कोई रोग कैसे हो सकता है? कुछ लोग तो यह पूछते कि

श्रीरामकृष्ण-जैसे सन्त पुरुषों को भी इतनी घातक बीमारी से कष्ट क्यों ? कुछ लोग यह तर्क करते कि कोई दैवी उद्देश्य को पूरा करने के लिए ठाकुर को यह व्याधि हुई है। और बहुत से लोग इसका समाधान यह देते कि श्रीराम-कृष्ण ने जिन भक्तों का उद्धार करके उन्हें पवित्र बनाया है, उनके पाप ग्रहण करने के कारण उन्हें यह कष्ट हुआ है। केवल युवा भक्तों का एक दल, जिसके अगुआ नरेन्द्र थे, ऐसा विश्वास करता कि चूँकि ठाकुर ने शरीर धारण किया है इसलिए उनको भी व्याधि, कष्ट, मृत्यु आदि भुगतने होंगे। इसमें सन्देह नहीं कि देव-मानव के रूप में उन्होंने दूसरों का उद्धार किया सही, परन्तु स्वयं की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्होंने अपनी दैवी शक्ति का उपयोग नहीं किया। यही नहीं, वे जनसाधारण को यह सिखाने आये थे कि सहनशील बनो, कठोर वास्तविकता का सामना करो, शारीरिक सीमाओं और कष्टों के परे चले जाओ।

सन् १८८५ के ग्रीष्मकाल के प्रारम्भ में श्रीरामकृष्ण के गले में सूजन शुरू हुई थी। प्राथमिक उपचार से व्याधि में कोई आराम नहीं हुआ और स्थिति अधिकाधिक बिग-ड़ती गयी। एक रात उनके गले में व्रण हो गया और चिकि-त्सकों ने उसमें कैंसर की आशंका की। चूँकि दक्षिणेश्वर में समुचित चिकित्सा की सुविधा सम्भव न थी इसलिए भक्तगण उन्हें कलकत्ता ले आये। पहले पन्द्रह दिन वे बल-राम बोस के यहाँ रहे, फिर सत्तर दिन श्यामपुकुर में और अन्त में कलकत्ते के उत्तरी अंचल के काशीपुर में गोपाल चन्द्र घोष के उद्यान-भवन में आ गये। वहाँ पाँच एकड़ में फैले सुन्दर उद्यान के अन्दर एक दुमंजिला मकान था।

ऊँची चारदीवारी के कारण वहाँ निर्जन और शान्त वातावरण था। ऊँचे मुख्य द्वार से प्रविष्ट हो कुछ दूरी तक वृक्षों से आच्छादित पथ से चलकर तब इस भवन तक पहुँचते थे। रास्ते में दाहिनी ओर एक बड़ा सा तालाब था, जिसमें सीमेंट से बना पक्का घाट था और भवन के नजदीक बाँयीं ओर एक दूसरा छोटासा तालाब था। फलदार वृक्ष, पुष्पाच्छादित पौधे, रसोई के लिए सब्जीबाड़ी तथा घनी झाड़ियों से घिरा उद्यान मानसून की समाप्ति-काल में मनोरम दिखाई पड़ता। इस प्रकार के भव्य परिवेश में श्रीरामकृष्ण की जीवन-ज्योति की अन्तिम लौ उसी प्रकार महनीय प्रतीत हो रही थी, जिस प्रकार गरिमामय सूर्यास्त की मंजुल छटा लगती है।

चिकित्सकों और भक्तों को निराश करते हुए श्रीरामकृष्ण की व्याधि लगातार बढ़ती ही गयी। अगस्त के पहले सप्ताह तक उनका शरीर चिन्ताजनक रूप से सूख गया, लगभग अस्थि-पंजर मात्र रह गया। वे दूसरों को अस्पष्ट फुसफुसाहट या संकेत से ही अपनी बात समझा पाते। बड़ी कठिनाई से वे तरल भोजन निगल पाते। उनके गले में बार-बार घाव हो जाता, और शायद ही कभी ऐसा होता कि उनको भयंकर पीड़ा न होती हो। एक दिन 'म' को उन्होंने अति मन्द स्वर में फुसफुसाते हुए कहा, "मैं यह सब आनन्दपूर्वक सहन कर रहा हूँ; नहीं तो तुम सब लोग रोओगे। यदि तुम सब लोग यह कहो कि इस प्रकार कष्ट सहने से तो शरीर का त्याग कर देना ठीक है, तो मैं तत्पर हूँ।" उनकी क्षीण होती शक्ति को देख भक्तों को चेतावनी मिलती और चिन्ता बढ़ती, पर श्रीरामकृष्ण का मन ऐसा था कि उनकी व्याधि

और पीड़ा का भान दूसरों को न होता था। हरि (स्वामी तुरीयानन्द) कहते, "ठाकुर कहा करते थे, 'देह जाने दुःख जाने, मन तू आनन्दी रह'।" आश्चर्य तो यह था कि उनका मानसिक बल घटने की बजाय उस समय सर्वोच्च रूप में प्रकट हुआ। उनकी भक्ति की तीव्रता और समाधि-प्रवणता थोड़ी सी भी उद्दीपना से पूर्ववत् प्रकट होती रही। एक क्षण के लिए भी वे अपनी अद्वैत-भाव की अनुभूति से च्युत नहीं हुए। एक दिन उन्होंने 'म' से कहा, "तुम जानते हो मैं क्या देखता हूं? मैं उन्हें ही सब हुए देखता हूँ। मनुष्य और दूसरे सब प्राणी ऐसे लगते हैं जैसे वास्तव में खोल मात्र हों और भीतर भगवान् बैठकर सिर हिला रहे हों अथवा हाथ-पाँव चला रहे हों।" यह अनुभव करते हुए कि उनका स्थूल शरीर अब अधिक दिन नहीं टिकेगा, उन्होंने अपनी आध्यात्मिक सम्पदा बिना किसी हिचक के बाँटनी शुरू कर दी। जो उनके समीप थे, उन्होंने अब उनमें उनकी आध्यात्मिक शक्तियों का सर्वोच्च प्राकट्य देखा। यहाँ २३ दिसम्बर १८८५ को श्रीरामकृष्ण ने अपने सर्वदा बढ़नेवाले प्रेम और कृपा का वर्षण निरंजन, कालीपद घोष और दो महिला-भक्तों पर किया था; फिर १ जनवरी १८८६ को 'भरे बाजार में हाँड़ी फोड़कर' उन्होंने उपस्थित प्रायः तीस भक्तों पर असीम कृपा की वर्षा की थी। सर्वोपरि, इतनी पीड़ा के बीच बनी हुई उनकी वह बहुतों के लिए अबूझ आनन्दवृत्ति थी, जो सबको उनके समीप खींच लेती। वास्तव में, ठाकुर का कमरा कैंसर के एक मरीज के आसपास बन जानेवाले नैराश्य-भरे वातावरण से युक्त रोगी-कक्ष होने की बजाय आध्यात्मिक आनन्द से उल्लसित एक सचमुच का हाट प्रतीत होता।

श्रीरामकृष्ण के व्यक्तित्व की तेजस्विता और उनकी आध्यात्मिक कीर्ति की भव्यता के कारण लोगों की दृष्टि से कुछ ऐसी बातें छिप सी गयी थीं, जो उल्लेखनीय हैं। इनमें पहली तो श्रीरामकृष्ण की उनके युवक-भक्तों द्वारा बड़ी लगन से की गयी सेवा-शुश्रूषा है, जिसमें शशि का कोई जवाब न था। दूसरी थी श्रीरामकृष्ण के निर्देशन में युवक-भक्तों द्वारा की गयी कठोर साधनाएँ। यहाँ नरेन्द्रनाथ सर्वश्रेष्ठ थे। तीसरी थी अनजाने ही युवक-भक्तों का एक अटूट सक्रिय दल में गठित हो जाना, जिसके नायक थे नरेन्द्रनाथ। इस प्रकार ठाकुर के जीवन-संवरण की लीला में विकास की ऐसी कई धाराओं का मिलन हो गया, जो बाद में विश्वव्यापी आन्दोलन के जन्म का कारण बनीं।

युवक भक्त, जिनमें अधिकांश कालेज के छात्र थे, अपनी पढ़ाई को कुछ समय के लिए छोड़कर श्रीरामकृष्ण की रोगशय्या के समीप एकत्रित हो गये थे। नरेन्द्रनाथ उन सबके लिए प्रेरणा के स्रोत थे। उनके जोर देने से वे लोग अपना घर-बार छोड़कर पूरा मन-प्राण लगाकर ठाकुर की सेवा में जुट गये थे। शुश्रूषा का काम पहले वे पाली-पाली से करते, बाद में सब समय करने लगे। ठाकुर भी अपनी देखभाल करनेवालों की अत्यन्त प्रेम से देखरेख करने लगे। शशि उनमें अपूर्व थे। श्रीरामकृष्ण के एक जीवनीकार लिखते हैं—"पर शशि की भक्तिपूर्ण सेवा की कोई तुलना नहीं हो सकती। सेवा किसे कहते हैं उसकी यदि कोई धारणा है तो उसे केवल शशि ही जानते थे। यदि कुछ लोगों को सेवक के रूप में अलग श्रेणी में रखा जाय, तो शशि उनमें सर्वोपरि होंगे। साथ ही यदि कोई निःस्वार्थ

सेवा सीखना चाहता हो तो वह निस्सन्देह शशि को आदर्श के रूप में अनुकरणीय मानेगा।"[1] पर युवक-भक्तों द्वारा इतनी लगन से की जानेवाली सेवा के बावजूद ठाकुर का शरीर कमजोर होता चला गया और कोई भी चिकित्सा या सेवा उनकी बीमारी पर रोक नहीं लगा पायी।

दूसरी तरफ, सर्वत्यागी युवक-भक्तों के आध्यात्मिक जीवन के मौन गठन के लिए ठाकुर अपनी द्विगुणित शक्ति से प्रस्तुत हो उठे। जब युवक-भक्त ठाकुर की सेवा में न रहते, उस समय वे लोग ठाकुर के निर्देशन में जप-ध्यान, शास्त्र-अध्ययन, चर्चा-भजन आदि में निमग्न रहते। ठाकुर का विशेष ध्यान नरेन्द्रनाथ को गढ़ने में था, जिन्हें उन्होंने अपना आध्यात्मिक उत्तराधिकारी चुना था। जनवरी १८८६ के एक दिन ठाकुर ने उन लोगों को गेरुआ वस्त्र और रुद्राक्ष-माला प्रदान किये थे, जिससे संन्यासी के जीवन लिए वे तैयार हो जायँ। उन्होंने उन लोगों को साधु की तरह बिना किसी जात-पाँत के भेद के किसी के भी हाथ से भोजन ग्रहण करने की अनुमति दे दी। इन सब बातों के साथ ठाकुर उन लोगों को एक संगठित दल के रूप में गढ़ रहे थे। परवर्तीकाल में श्रीमाँ सारदा ने स्मरण करते हुए कहा था, "ठाकुर तो इच्छा से मृत्यु का वरण कर सकते थे। बहुत सरलता से वे समाधि द्वारा शरीर छोड़ सकते थे। पर वे कहते, 'अच्छा हो यदि मैं इन लड़कों को प्रेम के सूत्र में बाँध जाऊँ'। तब तक उन लोगों में एक औपचारिक 'कैसे हो?' का सम्बन्ध था : 'नरेन्द्र बाबू कैसे हो?' 'राखाल बाबू, मजे में तो हो?' इस प्रकार का। तभी तो ठाकुर ने इतनी

१. रामचन्द्र दत्त : 'श्रीश्रीरामकृष्ण परमहंस देवेर जीवनवृत्तान्त' (बंगला), सप्तम संस्करण, पृ. १३८।

तकलीफ के बावजूद शरीर का जल्दी त्याग नहीं किया।"[२] वास्तव में, ठाकुर ने स्वयं ऐसी चेष्टा की, जिससे उन लोगों में आपस में प्रेम प्रगाढ़ हो सके और वे लोग भविष्य में भी एक सूत्र में बँधे रह सकें। इस प्रकार श्रीरामकृष्ण की शय्या के समीप संन्यासियों का वह संघ अस्तित्व में आया, जो भविष्य में उनके नाम से जाना गया। एक दूसरी शाम, ११ फरवरी १८८६ को ठाकुर ने नरेन्द्रनाथ को अपने समीप बुलाकर एक कागज के टुकड़े पर लिखा—'नरेन शिक्षा देगा।'[३] जब शिष्य ने इस पर आपत्ति की, तब ठाकुर ने दृढ़ता से कहा, "तुझे करना ही होगा। तेरी हड्डी-हड्डी इसके लिए तुझे बाध्य करेगी।" मई के प्रारम्भ में नरेन्द्रनाथ को श्रीरामकृष्ण की कृपा से 'निर्विकल्प समाधि' की उपलब्धि हुई। परन्तु वे जितने लम्बे समय तक उस आनन्द का उपभोग करना चाहते थे, वह नहीं हो सका। श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा, "माँ ने तुझे जो दिखलाया है वह अब ताले में रत्न की भाँति बन्द हो गया है, और उसकी चाबी मेरे पास सुरक्षित रहेगी। जब तू मेरा कार्य पूरा कर लेगा, तब इस कोष का ताला फिर खुलेगा और तब तू अभी जैसे सब कुछ जान सकेगा।" बीमारी के शेष काल में श्रीरामकृष्ण बहुधा नरेन्द्र को अकेले अपनी शय्या के पास बिठाकर लम्बे समय तक कई बातें समझाते। एक दिन चरम उत्सर्ग

२. 'दि गास्पेल ऑफ दि होली मदर सारदा देवी' (अँगरेजी), श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास, पृ. १०४।

३. वास्तव में उन्होंने बँगला में लिखा था—'जय राधे प्रेममयी नरेन लोकशिक्षे दिबे, जखन घरे बाहिरे हाक दिबे, जय राधे'। इसका अनुवाद इस प्रकार होगा—'जय राधे प्रेममयी, नरेन लोकशिक्षा देगा जब घर और बाहर प्रसिद्ध हो जाएगा, जय राधे'।

का समय आ गया। उस घटना का वर्णन नरेन्द्रनाथ (तब स्वामी विवेकानन्द) ने १९०१ में इस प्रकार किया है, "श्रीरामकृष्ण के देह-त्याग के तीन-चार दिन पहले, उन्होंने मुझे एक दिन एकान्त में अपने पास बुलाया, और मुझे सामने बिठाकर मेरी ओर एक दृष्टि से एकटक देखते हुए समाधिमग्न हो गये। मैं उस समय अनुभव करने लगा कि उनके शरीर से एक सूक्ष्म तेज बिजली के कम्पन की तरह आकर मेरे शरीर में प्रविष्ट हो रहा है! धीरे-धीरे मैं भी बाह्य ज्ञान खोकर निश्चल हो गया। कितनी देर तक ऐसे भाव में रहा, मुझे कुछ भी याद नहीं। जब बाहर की चेतना हुई तो देखा, श्रीरामकृष्ण रो रहे हैं। पूछने पर उन्होंने स्नेह के साथ कहा, 'आज सभी कुछ तुझे देकर मैं फकीर बन गया। तू इस शक्ति के द्वारा संसार का बहुत कल्याण करके लौट जायगा।' "[४] उसके कुछ समय बाद ही एक और महत्त्वपूर्ण घटना घटी। स्वामीजी के शब्दों में--"जब वे (श्रीरामकृष्ण) काशीपुर के बाग में थे और उनका शरीर बिल्कुल छूटने ही वाला था, तब मैंने उनकी शय्या के निकट बैठकर एक दिन मन में सोचा कि यदि वे अब कह सकें कि मैं भगवान् हूँ, तब मेरा विश्वास होगा कि वे सचमुच ही भगवान् हैं। चोला छूटने के दो दिन बाकी थे। उक्त बात को सोचते ही श्री गुरुदेव ने एकाएक मेरी ओर देखकर कहा, 'जो राम थे, जो कृष्ण थे, वे ही अब इस शरीर में रामकृष्ण हैं--केवल तेरे वेदान्त के मत से नहीं।' "[५] इस रहस्योद्घाटन से नरेन्द्र अवाक् रह गये। अन्य जिन दूसरों ने यह सुना, वे भी उसी प्रकार चकित थे। परन्तु नरेन्द्र

४. 'विवेकानन्द साहित्य', जन्मशती संस्करण, भाग ६, पृ. १७५।
५. वही, पृ० ४८।

पश्चात्ताप और लज्जा से गड़ गये कि इतनी बार प्रत्यक्षानुभूति के बाद भी उन्होंने अपने प्राणप्रिय ठाकुर के प्रति सन्देह किया।

इन सब बातों के साथ साथ ठाकुर चुपचाप सारदादेवी को भी तैयार कर रहे थे, जिससे वे इस नये युग के उन्मेष में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकें। एक दिन जब वे श्रीरामकृष्ण को खिला रही थीं, तब ठाकुर एकटक उनकी ओर देखने लगे। वे कह उठीं, "तुम्हारे मन में क्या है बोलो न।" उत्तर में ठाकुर उलाहना देते हुए कहने लगे, "सुनो, क्या तुम कुछ नहीं करोगी? क्या यही (अपनी ओर दिखाकर) सब कुछ करेगा?" "पर मैं क्या कर सकती हूँ! मैं तो औरत की जात हूँ," माँ ने विरोध के स्वर में कहा। "नहीं," ठाकुर ने जोर देकर कहा, "तुम्हें बहुत कुछ करना होगा।" उनकी भविष्यवाणी सच हुई, श्रीरामकृष्ण की प्रतिच्छाया, सारदादेवी, यथासमय प्रस्तुत हुईं। संन्यासी-संघ और भक्तों के समाज की गुरु के रूप में सारदादेवी के व्यक्तित्व की गरिमा प्रकट हुई। गृही और संन्यासी भक्त सभी के लिए सब समय वे प्रेरणा की स्रोत सिद्ध हुईं।

सेवा, भक्ति और भाव-समाधियों में जैसे जैसे दिन बीत रहे थे, वैसे वैसे श्रीरामकृष्ण अपने महाप्रयाण की तैयारियाँ कर रहे थे; उसके लक्षण देख भक्तगण चिन्तित तथा सेवक लोग आशंकित हो रहे थे। सबके भीतर एक अज्ञात भय धीरे धीरे समाता जा रहा था कि जिस ज्योति ने उनके अन्तर को आलोकित किया था, वह अब आँखों से ओझल होनेवाली है। भारी हृदय लेकर

युवक-भक्त अत्यन्त निष्ठापूर्वक अपना सेवाकार्य करते जा रहे थे। दु:खी बुजुर्ग लोग हतप्रभ थे, समझ नहीं पा रहे थे कि क्या करें। ठाकुर के जीवन के अन्तिम क्षण को तीव्रता से निकट आता अनुभव कर सुन्दर उद्यान अपने तालाब, वृक्ष और झाड़ियों के साथ उदास लगने लगा।

भवन के ऊपरी कक्ष में लेटे हुए ठाकुर प्राय: सब समय भगवत्-भाव में डूबे रहते। उनका मन बार-बार अतीन्द्रिय राज्य में पहुँच जाता और सामान्य चेतना के स्तर पर लौटना न चाहता। और यदा-कदा कभी उतरता भी, तो सिवाय अपनी ब्रह्मानुभूति के वे कुछ न बोलते। इन क्षणों में देह, बीमारी और कष्टदायक पीड़ा सबका भान वे भूल जाते।

एक दिन ठाकुर ने देवेन्द्रनाथ के पास अपनी आन्तरिक स्थिति प्रकट करते हुए कहा, "देखो, समाधि में डूबे रहने की इच्छा मेरे मन पर छाती रहती है।"

ऐसे ही समय में एक दिन ठाकुर तकिये के सहारे झुककर बैठे हुए थे। उन्होंने शशि को सारदादेवी को लिवा लाने के लिए भेजा। उनके आने पर उनकी उपस्थिति में श्रीरामकृष्ण ने अत्यन्त क्षीण स्वर में कहा, "मैं नहीं समझ पा रहा हूँ क्यों मेरा मन आजकल सब समय ब्रह्म में डूबा रहता है।"[६]

१४ अगस्त १८८६; ३० श्रावण १२९३ बंगाब्द की सुबह का समय था; श्रीरामकृष्ण दूसरी मंजिल के बड़े

६. अक्षय कुमार सेन : 'श्रीश्रीरामकृष्णपुंथि' (बँगला), ९वाँ संस्करण, पृ० ६२८।

हॉल में थे। बलराम, रामलाल और कविराज कमरे में थे।

इन दिनों थोड़ी सी भी उद्दीपना से श्रीरामकृष्ण का मन गहरी समाधि में डूब जाता। उस दिन भी उनका मन एकदम उठकर गहरी समाधि में डूब गया। सबकी निगाहें उन पर जमी हुई थीं। बहुत समय बाद सामान्य देह-भाव उनमें जागा। बलराम को सम्बोधित कर ठाकुर ने कहा, "जानते हो मैं क्या देखता हूँ? क्या यह भी ब्रह्म का एक दर्शन है— विद्युत् का शान्त सागर जो यहाँ-वहाँ एक-दो भाग में बँटा है? ऐसा लग रहा है मानो चाँदी से ढकी हुई छत हो।"

थोड़ी देर बाद ही बागबाजार के राखाल मुखर्जी आये। उनकी उपस्थिति में ठाकुर फिर समाधि में डूब गये। सहजावस्था में लौटने पर ठाकुर ने बतलाया, "मैं पारे की एक बड़ी झील को देख रहा हूँ। उसके भीतर में सीसे के छोटे से पुतले-जैसा हूँ।"

दोपहर में बहुत जोरों से मेघ-गर्जन हुआ। वह सुनकर सारदादेवी और श्रीरामकृष्ण की भतीजी लक्ष्मी ऊपर ठाकुर के कमरे की ओर तीव्रता से दौड़ गयीं। घबड़ाहट से भरी लक्ष्मी उदास दिख रही थी। उसका ध्यान आकर्षित करते हुए ठाकुर ने कहा, "तुम जानती हो मैं किसी का उतरा हुआ चेहरा देखना पसन्द नहीं करता।" इससे लक्ष्मी को सँभलने में सहायता मिली और वह मुसकराने लगी।[७]

७. 'श्रीश्रीलाटूमहाराजेर स्मतिकथा' (बँगला), प्रथम संस्करण, पृ० २७६।

दूसरे दिन रविवार, १५ अगस्त १८८६ का दिन था।

सुबह आठ बजे के करीब ठाकुर ने योगिन को बुला भेजा। ठाकुर ने उससे बंगाली पंचांग से श्रावण के प्रथम भाग को पढ़ने के लिए कहा। योगिन एक एक दिन का वर्णन पढ़ते हुए माह के अन्तिम दिन तक पहुँच गये। ठाकुर ने तब संकेत द्वारा रोकते हुए बतला दिया कि वे और अधिक नहीं सुनना चाहते।

यहाँ देवमाता द्वारा लिखे शशि महाराज के संस्मरण से बात और अधिक स्पष्ट होती है। शशि महाराज ने बतलाया था, "वे (श्रीरामकृष्ण) स्वयं भी बीच बीच में हम लोगों से कहते रहते कि समुद्र म तैरता हुआ पात्र दो-तिहाई भर चुका है और शीघ्र ही बाकी हिस्सा भी भर जाएगा और पात्र सागर में डूब जाएगा। परन्तु हमको विश्वास नहीं होता था कि सच ही वे चले जाएँगे। कभी उनको पीड़ा से चिन्तित नहीं देखा। कभी उन्हें अपनी प्रफुल्लता खोते नहीं देखा। वे कहा करते कि वे बहुत आनन्द में हैं, सिर्फ थोड़ा-बहुत यहाँ (गले को दिखाते हुए) कुछ है। 'मेरे भीतर दो व्यक्ति हैं,' वे कहा करते, 'एक है जगन्माता और दूसरा है उसका भक्त। यह भक्त है जो बीमार पड़ा है'।" ८

दोपहर के समय बागबाजार के राखाल मुखर्जी फिर आये। वे यूरोपियन ढंग से रहते थे। उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्ण का शरीर दिन-प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा है; शरीर सूखकर अस्थिमात्र रह गया है। ठाकुर की

८. भगिनी दयामाता : 'श्रीरामकृष्ण एवं उनके शिष्य' (अँगरेजी), १९२८, पृ० १६१।

गिरती हालत से विचलित हो श्री मुखर्जी ने ठाकुर को इस बात के लिए राजी करना चाहा कि वे चिकन सूप लें। पर ठाकुर ने दृढ़ता से नामंजूर कर दिया, पर श्री मुखर्जी छोड़ नहीं रहे थे। तब अन्त में ठाकुर ने कहा, "सच कहता हूँ, मुझे कोई आपत्ति नहीं है। पर मुझे स्थानीय रीति-रिवाज को सम्मान देना पड़ेगा। ठीक है, कल देखेंगे।"[९]

दोपहर में एक घटना घटी, जिसका लक्ष्मी ने बाद में वर्णन किया था। उन्होंने बतलाया, "काशीपुर-उद्यान में श्रीरामकृष्ण कुछ तकियों के सहारे टिककर बैठे हुए थे। वह शान्त दुपहरी थी। वे मौन बैठे थे। कुछ लोगों को ऐसा लगा कि शायद उनक बोलने की शक्ति चली गयी है। पर सारदादेवी और लक्ष्मी को आते देख वे क्षीण स्वर में बोल उठे, 'तुम लोग आयी हो। देखो, मुझे ऐसा लगता है कि मैं जल के पार दूर देश जा रहा हूँ—ऐसा स्थान जो बहुत दूर है।' जब सारदादेवी की आँखों से आँसू झरने लगे, तब श्रीरामकृष्ण ने आगे कहा, 'तुम चिन्तित क्यों हो रही हो? तुम्हारा अभी जैसा है वैसा ही रहेगा। नरेन और अन्य सब जो मेरे लिए कर रहे हैं, वे तुम्हारे लिए भी करेंगे। लक्ष्मी का ख्याल रखना, उसे अपने साथ रखना।'"[१०]

यह एक प्रकार से चमत्कार ही था कि श्रीरामकृष्ण अपराह्न में योग के सम्बन्ध में पूछने आये एक युवक से

९. 'म' की डायरी, पृष्ठ ८२९।

१०. देवी लक्ष्मीमणि और जोगीन्द्रमोहिनी विश्वास : 'श्रीरामकृष्णस्मृति' (बंगला), पृ. १४।

पूरे दो घण्टे बात करते रहे।[११]

परन्तु इसके बाद ही श्रीरामकृष्ण की बाह्य संज्ञा लुप्त हो गयी। इससे अत्यन्त शंकित हो शशि किसी अन्य पर भरोसा न कर स्वयं कई मील भागकर कविराज नवीनचन्द्र पाल के घर पहुँचे, जहाँ उन्हें पता लगा कि कविराज अपने मरीजों को देखने अपने नित्य के राउण्ड में निकले हैं। घर से कुछ जानकारी एकत्र कर शशि ने फिर एक मील दूर जाकर एक मरीज के यहाँ कविराज को पकड़ा। कविराज का एक पूर्व निर्धारित कार्यक्रम था, इसलिए वे अपनी असमर्थता जताने लगे। पर शशि किसी प्रकार उनको मनाकर काशीपुर ले आये।

इस समय तक श्रीरामकृष्ण की बाह्य चेतना लौट आयी थी, तथापि ऐसा लगा कि उनका स्वास्थ्य गिरता जा रहा है। डा० पाल ठाकुर का परीक्षण[१२] करने लगे। डाक्टर का ध्यान आकर्षित करते हुए ठाकुर ने उनसे कहा, "आज मेरी पीड़ा कुछ ज्यादा ही भयंकर है। लगता है कि दोनों बाजू जल रहे हैं।"[१३] मरीज की नाड़ी का परीक्षण कर डाक्टर बहुत चिन्तित हो उठे।

---

११. भगिनी देवमाता : वही पृ. १६२।

१२. रामचन्द्र दत्त के अनुसार डाक्टर का यह दिन में दूसरी बार आना हुआ था।

१३. यह रामचन्द्र दत्त के अनुसार है। अक्षय कुमार सेन ने अन्य प्रकार का विवरण दिया है। उनके अनुसार ठाकुर ने अपनी पीड़ा का वर्णन करते हुए कहा, 'मुझे ऐसा लग रहा है जैसे कोई मेरी नसों में गरम जल की सुई लगा रहा हो। मेरे सब अंग असह्य वेदना से जल रहे हैं।'

ठाकुर ने डा० पाल से पूछा, "क्या सच में तुम मुझे इस बीमारी से बचा लोगे ?" डाक्टर ने कोई उत्तर न दिया। तब ठाकुर ने फिर कहा, "सब इलाज निष्फल हो गये। क्या बीमारी पहुँच के बाहर हो गयी है ?"

"ऐसा ही है", ऐसा कहकर डा० पाल सिर नीचे झुकाकर बैठ गये।

बाजू में खड़े देवेन्द्रनाथ के मुख को अपनी उँगली से थपथपाते हुए ठाकुर कहने लगे, "देखो वे लोग क्या कहते हैं! इतने समय बाद अब वे कहते हैं कि असाध्य है।"

जिस प्रकार माँ बच्चे को समझाती है, उसी प्रकार देवेन्द्रनाथ ने समझाते हुए श्रीरामकृष्ण की चिन्ता को कम करने की चेष्टा की। ठाकुर ने अपना हाथ बढ़ा दिया। देवेन्द्र ने नब्ज टटोलने की कोशिश की, पर उसमें कोई स्पन्दन न देख वे उद्विग्न हो उठे। उनका चेहरा उतर गया।

ठाकुर कहने लगे, "मैं मरने से नहीं डरता। क्या तुम बतला सकते हो कि प्राणवायु किस प्रकार शरीर छोड़कर जाती है ?"

अन्य उपस्थित लोग श्रीरामकृष्ण की नब्ज देखने के लिए आगे आये। कोई भी उनकी सही स्थिति नहीं समझ सका। गिरीशचन्द्र के भाई अतुलकृष्ण, जो नाड़ीविशेषज्ञ थे, ने ठाकुर का परीक्षण किया और भक्तों को बतलाया कि ठाकुर का जीवन संकट में है। उद्यानभवन छोड़ने के पूर्व उन्होंने ठाकुर के सेवकों को सावधान रहने की हिदायत दी।

सन्ध्या के कुछ पहले ठाकुर को साँस लेने में कठिनाई होने लगी । इसकी ओर इंगित करते हुए उन्होंने कहा, "इसको ही अपान वायु कहते हैं" (नाभि से ऊपर उठनेवाली प्राणवायु) । ऐसा लगा कि सेवकों ने ठाकुर की अपनी दशा के बारे में बतलायी बातों पर ध्यान नहीं दिया; वे उनके लिए दलिया का एक कटोरा ले आये और वह लेने का आग्रह करने लगे । यद्यपि अपने सेवकों को सन्तुष्ट करने के लिए उन्होंने वह लिया, पर बहुत थोड़ा-सा ही ले सके । उनकी भूख नहीं मिटी । ठाकुर ने कहा, "मेरी इच्छा होती है कि थाली भर भात खाऊँ, पर महामाया मुझे थोड़ा-सा भी खाने से रोक देती है ।" देवेन्द्रनाथ ने उन्हें सान्त्वना देने की कोशिश की ।

ठाकुर जैसे ही बिस्तर पर लेटे, उन्होंने प्रतिदिन की तरह 'हरि ओम् तत्सत्' कहा । अक्षय, लाटू और वैकुण्ठ उन्हें पंखा झलने लगे । रात्रि नौ बजे के लगभग ठाकुर ने गहरी साँस छोड़ी और ऐसी समाधि में डूब गये, जो सामान्य प्रकार की न थी । शोकाकुल शशि को आशंका हो गयी कि शायद यह अन्त हो गया और वे रुदन करने लगे । उनके अनुरोध पर अक्षय सेन और छोटा गोपाल बागबाजार की ओर भागे, जिससे गिरीशचन्द्र और रामचन्द्र जैसे बुजुर्ग भक्तों को खबर मिल जाय । इस बीच नरेन्द्रनाथ एवं अन्य लोग ठाकुर के कमरे में एकत्रित हो गये । नरेन्द्र के कहने पर सब मिलकर 'हरि ओम् तत्सत्' का मंत्रोच्चार करने लगे । मंत्रोच्चारण मध्यरात्रि में तब तक चला, जब तक ठाकुर का बाह्यज्ञान न लौट आया ।

उसी समय 'म' कमरे में प्रविष्ट हुए। उन्होंने देखा कि सेवकगण ठाकुर को बिस्तर पर बिठाने की चेष्टा कर रहे हैं।

ठाकुर बोले, "क्या मैं उठूं? मेरा सिर चकराएगा।"

'म' ने पूछा, "क्या यह उचित होगा कि उनके माथ पर कुछ ठण्डा जल छिड़ककर पंखा झला जाय?"

ठाकुर पूछ उठे, "क्या?"

बूढ़े गोपाल ने कहा, "मास्टर महाशय आये हैं।"

ठाकुर चुप रहे। शशि का सहारा लेकर पाँच-छह तकियों के सहारे ठाकुर ने एक पूरा गिलास दलिया पिया और ऐसा लगा कि उन्हें अच्छा लगा। ठाकुर कहने लगे, "अहा! मुझे अच्छा लग रहा है। अब मैं बीमारी से मुक्त हो गया हूँ!" उतना भोजन एक साथ लेते देख सभी सेवक प्रसन्न थे।

यद्यपि शशि बहुत सावधानीपूर्वक पंखा झल रहे थे, पर ठाकुर ने दो बार पूछा, "तुम काँप क्यों रहे हो?" शशि को अनुभव हुआ कि ठाकुर का मन इतना एकाग्र और स्थिर हो गया है कि थोड़ा-सा भी कम्पन उन्हें दिख जाता है।

नरेन्द्र उनके चरणों को लेकर धीरे-धीरे हाथ फेरने लगे। ठाकुर अन्तिम क्षणों तक नरेन्द्र से धीमे स्वर में बातें करते रहे। उन्होंने उनसे कई बार कहा, "इन लड़कों का ख्याल रखना।" ठाकुर की अवस्था लगभग एक-सी देख नरेन्द्र ने उनसे सो जाने के लिए कहा.

तदुपरान्त ठाकुर ने अपनी प्रिय इष्ट काली के नाम का स्पष्ट स्वर में उच्चारण किया और बिस्तर पर लेट गये। नरेन्द्र धीरे-धीरे उनके पैर सहला रहे थे जबकि बाकी लोग पंखा झल रहे थे। थोड़ी देर बाद ठाकुर को आराम लेते देख नरेन्द्र थोड़ा आराम करने नीचे चले गये।

वह १५ अगस्त की मध्यरात्रि के पश्चात् एक बजकर दो मिनट[१४] का समय रहा होगा। ठाकुर के शरीर में एक सिहरन हुई और शरीर के रोएँ खड़े हो गये। वे एक तरफ लुढ़क गये। नेत्र नासाग्र पर केन्द्रित हो गये। चेहरे पर एक दिव्य मुसकान खेल उठी। ठाकुर फिर समाधि में डूब गये थे। शशि ने इस घटना को जिस प्रकार से बतलाया था, वह थोड़ा भिन्न होते हुए भी बहुत सजीव है। उन्होंने कहा था--"एक बजे हठात् वे एक तरफ लुढ़क गये, गले में हल्की सी खरखराहट थी और शरीर के समस्त रोम खड़े हो गये थे। नरेन्द्र[१५] ने जल्दी से उनके चरण एक रजाई पर रख दिये और उस दृश्य को देख पाने में अपने को असमर्थ पा नीचे भाग गये। एक डाक्टर, जो बहुत बड़े भक्त थे और नाड़ी टटोल रहे थे, ने जब पाया कि वह रुक गयी है, तो जोरों से विलाप करने लगे। मैं उनको ऐसा व्यवहार करते देख मानो ठाकुर सच में हमको छोड़कर चले गये हैं,

१४. रामचन्द्र दत्त के अनुसार एक बजकर छह मिनट हुए थे।

१५. एक अन्य विवरण के अनुसार नरेन्द्र उस समय नीचे की मंजिल में थे। हालत के गम्भीर होने का समाचार पा वे ऊपर ठाकुर के कमरे की ओर भागे।

अधीर हो पूछ उठा, 'आप क्या कर रहे हैं?' "[१६]

'म' और अन्य लोग श्रीरामकृष्ण के कमरे की ओर भागे। इस सम्बन्ध में 'म' की डायरी में जैसा लिखा है, वह इस प्रकार है, "प (परमहंसदेव) अपने बाँयीं ओर लेटे हुए--नीचे का जबड़ा कुछ काँपता हुआ--अस्पष्ट आवाज--शरीर स्थिर पर सब रोएँ खड़े हुए।"

उद्यानभवन में बिजली की सी तेजी से यह खबर फैल गयी और कुछ ही क्षणों में श्रीरामकृष्ण का कमरा लोगों से भर गया। सब लोग श्रीरामकृष्ण की ओर टकटकी लगाये देख रहे थे। अधिकांश लोगों को ऐसा लग रहा था मानो श्रीरामकृष्ण को फिर से समाधि लगी हुई है। इसलिए 'म' के आग्रह से उपस्थित लोगों में से करीब बीस लोगों ने, जिनमें नरेन्द्रनाथ भी थे, समवेत स्वर से 'हरि ॐ, हरि ॐ' और कभी-कभी 'ॐ काली, ॐ काली' (क्योंकि समाधि में जाने से पूर्व श्रीरामकृष्ण ने काली-नाम का उच्चारण किया था) मंत्र का जोरों से उच्चारण करने लगे। उस समय वहाँ उपस्थित तारक (परवर्तीकाल में स्वामी शिवानन्द) ने बाद में अपना संस्मरण बतलाया था--"हमें लगता था कि ठाकुर लम्बी समाधि में डूबे हैं, क्योंकि कभी-कभी उनकी समाधि इतनी गहरी होती कि कई दिन तक लगातार बनी रहती। यह विश्वास कर कि वे गहरी समाधि में हैं हम लोग पवित्र मंत्रों का जोरों से उच्चारण करने लगे। रात बीत जाने पर भी ठाकुर की अवस्था में परिवर्तन नहीं आया।"[१७] इस प्रकार शिष्य एवं

१६. भगिनी दयामाता : वही, पृ. १६२-६३।

१७. 'शिवानन्द वाणी' (बँगला), भाग १, तृतीय संस्करण, पृ. ३०।

भक्तगण लगभग दो बजे दिन तक उनके समीप बने रहे ।

इधर जैसे ही श्रीरामकृष्ण समाधि में लीन हुए थे, अत्यन्त चिन्तित नरेन्द्र ने बूढ़े गोपाल और लाटू को दक्षिणेश्वर से रामलाल (श्रीरामकृष्ण के भतीजे) को लिवा लाने भेज दिया था। उनके साथ आकर रामलाल ने श्रीरामकृष्ण के शरीर का परीक्षण करके कहा, "मस्तक अभी भी गरम है। किसी को भेजकर कप्तान (विश्वनाथ उपाध्याय) को बुला लें।"

समाधि के सम्बन्ध में अच्छा ज्ञान रखनेवाले कप्तान लगभग आठ बजे सुबह आये । परीक्षण से उन्होंने देखा कि शरीर में कुछ गर्मी है, विशेषकर रीढ़वाले भाग में, इसलिए उनके सुझाव पर शशि ने श्रीरामकृष्ण की पीठ पर मक्खन से मालिश की तथा वैकुण्ठ ने तलवों में, पर इससे कोई लाभ न हुआ ।

श्रीरामकृष्ण की अवस्था की जानकारी थोड़ी-थोड़ी देर में सारदादेवी को उनके कमरे में पहुँचायी जा रही थी। अब अधिक देर तक वे अपने को न रोक सकीं। वे ठाकुर के कमरे में आयीं और चीख उठीं, "ओ माँ काली ![१८] मैंने क्या किया जो तुम मुझे अकेली छोड़कर चली गयीं ?" उनका क्रन्दन सुन बाबूराम और योगिन उनके समीप पहुँचे । अन्त में गोलाप-माँ उनको सहारा दे उनके कमरे में वापस ले गयीं । तब तक उन्होंने अपने को संयमित कर लिया और एक नीरव मौन में डूब गयीं ।

१८. स्पष्ट ही है कि वे ठाकुर को माँ काली के रूप में देखती थीं।

यह दु:खद समाचार कलकत्ते में चारों तरफ दावानल के समान फैल गया और सुबह से भक्तों का ताँता लग गया। १६ अगस्त १८८६ की ब्राह्मसमाज की पत्रिका 'धर्मतत्त्व' में श्रीरामकृष्ण के महाप्रयाण की तथा उस दिन सन्ध्या ५ बजे वराहनगर के श्मशानघाट में उनकी अन्तिम क्रिया की खबर प्रकाशित हुई थी।[१९] जैसे-जैसे दिन चढ़ने लगा, ठाकुर के परिचित एवं अपरिचित सभी प्रकार के लोगों की भीड़ उनके अन्तिम दर्शनों के लिए उमडने लगी।

उनकी देह में अभी भी थोड़ा सा ताप होने के कारण बहुत से भक्त इस मीठी आशा को सँजोये हुए थे कि ठाकुर अभी भी जीवित हैं। परन्तु मध्याह्न में डा० महेन्द्रलाल सरकार ने आकर जाँच की और अन्त में घोषित किया कि उनकी मृत्यु हो गयी है। डा० सरकार ने अपनी डायरी में लिखा था—"भोजनोपरान्त गया था—पहले डफ स्ट्रीट में एक महिला-रोगी के यहाँ, फिर परमहंस के पास जिन्हें मैंने मृत पाया—उनकी मृत्यु पिछली रात एक बजे हो गयी थी। वे बाँयीं करवट में पड़े थे, पैर ऊपर की ओर मुड़े थे, आँखें, खुली हुई थीं तथा मुख कुछ खुला हुआ था। उनके शिष्य, कम से कम कुछ तो, इस उम्मीद में थे कि वे समाधि

---

१९. 'दि इण्डियन मिरर' के १९ अगस्त १८८६ के अंक में छपा था—'दक्षिणेश्वर के परम श्रद्धेय रामकृष्ण परमहंस, जो कुछ महीनों से गले की व्याधि से पीड़ित थे, ने रविवार, १५ अगस्त की रात्रि में करीब १ बजे अन्तिम साँस ली। बीमारी से उनका स्वास्थ्य टूट गया था, परन्तु अन्त इतनी जल्दी आ जाएगा ऐसा किसी ने नहीं सोचा था।

में हैं, मरे नहीं हैं। मैंने गलतफहमी दूर की। मैंने उन लोगों से उनकी तसवीर खिचवाने के लिए कहा और अपनी तरफ से १०) चन्दा दिया।"

मध्याह्न पाँच बजे श्रीरामकृष्ण की देह को आहिस्ते ऊपर की मंजिल से नीचे लाया गया तथा पोर्टिको के सामने एक बड़े पलंग पर लिटा दिया गया। देह को पीली धोती पहनायी गयी तथा चन्दन, माला और फूलों से अच्छी तरह सजा दिया गया। ठाकुर तथा पलंग के पीछे खड़े उनके शिष्यों एवं भक्तों की दो तस्वीरें खींची गयीं। इसी समय सुपरिचित भक्त सुरेन्द्रनाथ मित्र आये। ठाकुर के पलंग पर बाजू में बैठकर वे बिलख-बिलखकर रोने लगे, फिर ठाकुर के पावन चरणों में उन्होंने पुष्पांजलि दी।

भक्तों के साथ सुप्रसिद्ध पत्रकार नगेन्द्रनाथ गुप्त भी बैठे थे, जो आज जीवन में दूसरी बार श्रीरामकृष्ण के दर्शन के लिए आये थे। बाद में उन्होंने लिखा था--"वे वहाँ भवन के पोर्टिको के सामने, खुले आकाश के नीचे, नयी चादर तथा पुष्पों से सजे एक सुन्दर बिस्तर पर लेटे हुए थे। वे अपने दाहिनी ओर लेटे थे तथा एक तकिया उनके सिर के नीचे तथा दूसरा उनके पैरों के बीच में था। जिन अधरों ने गले की असहनीय कैंसर की वेदना के इन कुछ महीनों में भी विश्राम लेना नहीं जाना था, वे आज मृत्यु की नीरवता में मौन थे। मृत्यु की अन्तिम निस्तब्धता, शान्ति, विश्रान्ति और भव्यता उनके मुखमण्डल पर भासित हो रही थी, जो अब अपने अन्तिम विश्राम में स्निग्ध और निश्चिन्त था। अधरों की मुसकान से लगता था कि प्राण समाधि का आनन्द

लेते हुए छूटे हैं। जब हम लोग ढलती हुई दुपहरी में बैठकर इस बात की प्रतीक्षा कर रहे थे कि दिन की गर्मी थोड़ी कम हो जाय और तब अरथी को श्मशान ले जायँ, ऐसे समय में बादल का एक टुकड़ा हम लोगों के सिर पर से गुजरा तथा मोटी-मोटी बूँदोंवाली छोटी-सी बौछार हो गयी। उपस्थित लोगों ने कहा कि यह मानो आकाश से पुष्पवृष्टि हुई है।"[२०]

एक घण्टे के बाद लोग एक जुलूस के रूप में भजन-कीर्तन करते हुए गंगाजी पर स्थित काशीपुर श्मशान-घाट की ओर चले। करीब १५० लोग जिनमें कलकत्ते के कई गण्यमान्य लोग भी थे, शवयात्रा में शामिल हुए। कुछ लोग झण्डा लिये हुए थे तथा कुछ हिन्दू, बौद्ध, इसलाम तथा ईसाई धर्म के चिह्नों को लेकर चल रहे थे। श्मशानघाट में श्रीरामकृष्णदेव की पूत देह को गंगाजल से स्नान कराकर नये गेरुए वस्त्र पहनाये गये तथा सजाकर पूजा की गयी। देह को आहिस्ते से चिता पर लिटाया गया। भक्तों ने चरण-स्पर्श कर अन्तिम प्रणाम किया। चिता को प्रज्वलित किया गया तथा उसमें घी, चन्दन तथा अगरु इत्यादि अन्य सुगन्धित द्रव्य पदार्थ डाले गये। श्रीरामकृष्ण के प्रिय पात्र, ब्राह्मसमाज के सदस्य, त्रैलोक्य नाथ सान्याल ने उस अवसर के अनुकूल तीन-चार भजन गाये।

इसी समय लाटू श्मशानभूमि में आये। बाद में अपने संस्मरण में बतलाया—"मैंने गंगा के तट पर

२०. नगेन्द्रनाथ गुप्त : 'Reflections and Reminiscences', १९४७, जैसा कि 'समसामयिक दृष्टिते श्रीरामकृष्ण परमहंस' (बंगला) में उद्धरित है।

बहुत से लोगों को चुपचाप बैठे देखा। शशि चिता के समीप बैठा था तथा उसके हाथ में पंखा था। शरत् उसके साथ था। शरत् और लोरेन (नरेन) दोनों शशि को सान्त्वना दे रहे थे। मैं उसके हाथ को अपने हाथ में ले उसको ढाँढ़स बँधाने लगा, पर वह दुःख से निस्पन्द बना रहा। बाद में शशि ने ठाकुर की अस्थियाँ और भस्म संचित कर एक पात्र में रख लिया। उस पात्र को अपने सिर पर रख वह उद्यानभवन ले आया। वहाँ उसे ठाकुर के पलंग पर रख दिया गया।"[२१]

काशीपुर पुलिस थाने में मृत्यु की जो खबर दर्ज करायी गयी थी, उसका विवरण नीचे दिया जा रहा है[२२]—

नं० ९५०	: प्रविष्टि की तारीख—१९-८-८६
मृतक का नाम तथा निवास	: रामकृष्ण परमहंस, ४९ काशीपुर रोड
मृत्यु की तारीख	: १५-८-८६, लिंग : पु०; उम्र : ५२
जाति या राष्ट्रीयता	: हुगली, जाति—ब्राह्मण
धर्म	: हिन्दू
व्यवसाय	: उपदेशक
मृत्यु का कारण	: गले में घाव
किसके द्वारा सूचना दी गयी	: एक मित्र गोपाल चन्द्र घोष
विशेष	: काशीपुर घाट

२१. स्वामी चेतनानन्द: 'स्वामी अद्भुतानन्द' (अँगरेजी), १९८०, पृ ५३।

२२. महेन्द्रनाथ दत्त: 'गुरुप्राण रामचन्द्रेर अनुध्यान' (बँगला), परिशिष्ट पृ. ६१। स्पष्ट ही है बूढ़े गोपाल ने मृत्यु के तीन दिन उपरान्त पुलिस में रिपोर्ट दर्ज करवायी थी।

सन्ध्या के समय, प्रथा के अनुसार, हिन्दू विधवा के रूप में जब सारदादेवी अपने आभूषण उतार रही थीं, ठाकुर उनके सामने उसी रूप में, जिस रूप में वे बीमार होने से पहले थे, प्रकट हो गये और उनका हाथ रोककर कहा, "मैं गया कहाँ हूँ ? यह तो एक कमरे से दूसरे कमरे में जाने जैसा है।" इस दर्शन से सारदादेवी और अन्य सब भक्तों को भी यह विश्वास हो गया कि ठाकुर उनके साथ हैं।

रामकृष्णरूपी घटना का भव्य सूर्यास्त अपनी सुन्दरता और गरिमा के साथ शीघ्र ही भक्तों के मन को लपेटता हुआ सन्ध्या के धूमिल अन्धकार में डूब गया। पर यह थोड़े समय के लिए ही था, क्योंकि उसके बाद ही उन लोगों में एक मौन समर्पण का भाव आ गया। तदनन्तर उन लोगों का मन स्मृति के दिव्य पठारों में विचरण करता रहता। यादें उन्हें पीछे ले जाकर उस जीवन्त घटना का आस्वाद करातीं, जिसका ताना-बाना श्रीरामकृष्ण के जीवन और कार्यों से बुना था। भक्तगण अपना मन जितना एकाग्र करते, चित्र उतने ही स्पष्ट दीखने लगते। तस्वीर में निश्चल दिखनेवाले श्रीरामकृष्ण उनमें से प्रत्येक के स्मृतिपटल पर समूचे रंगों, भावों और शब्दों से भरकर पुनर्जीवित हो उठते। इसलिए उनमें से प्रत्येक को असीम प्रेरणा मिलने लगती।

पर क्या यह उन्हीं के साथ घट रहा था, जो उनके जीवित रहते उनके साथ थे ? क्या यह मात्र भूतकाल की बात है ? बिल्कुल नहीं, क्योंकि भक्तों द्वारा बार-बार उनके दर्शन से यह स्पष्ट हो जाता है। स्वामी विवेकानन्द ने भी घोषणा की थी, "भगवान् ने अभी भी रामकृष्ण-

रूप नहीं त्यागा है। कई लोग आज भी उनके उस रूप में दर्शन पाकर उनसे निर्देश प्राप्त कर रहे हैं। इच्छा करने पर सभी लोग उनके दर्शन पा सकते हैं। यह रूप तब तक बना रहेगा, जब तक वे पुनः दूसरी स्थूल देह नहीं धारण करते।" फिर यह तथ्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि वर्तमान और भविष्य में मानवी समस्याओं के सन्दर्भ में मुक्ति का संस्पर्श देनेवाली श्रीरामकृष्ण-जीवन-घटना आज भी घट रही है।

○

श्रीरामकृष्ण और विश्वधर्म

स्वामी रंगनाथानन्द

(लेखक रामकृष्ण मठ के प्रवर न्यासी तथा रामकृष्ण मिशन प्रशासी मण्डल के वरिष्ठ सदस्य हैं। वे अपनी विद्वत्ता, प्रतिभा और वक्तृत्व-शक्ति के कारण विश्व के प्रमुख देशों में लगभग हर वर्ष व्याख्यानों के लिए निमंत्रित होते हैं। वर्तमान में वे रामकृष्ण मठ, हैदराबाद के अध्यक्ष हैं। प्रस्तुत लेख श्रीरामकृष्णदेव की शताब्दी के उपलक्ष में अँगरेजी मासिक पत्रिका 'प्रबुद्ध भारत' के जनवरी १९३६ अंक में प्रकाशित हुआ था, जहाँ से वह साभार गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। --स०)

इतिहास का यह एक निर्विवाद सत्य है कि मानवता के विकास में सर्वाधिक शक्तिशाली कारणों में एक वह शक्ति रही है, जो धर्म और धार्मिक प्रेरणा के रूप में अपने को प्रकट करती है। प्राचीनतम काल से उसने सामाजिक संगठन एवं सामाजिक प्रगति के लिए प्रेरणा प्रदान की है। व्यक्तिगत आध्यात्मिक प्रयोजनों को पूरा करने के अलावे वह व्यक्तियों को दल एवं समुदाय के रूप में बाँधने की भी शक्ति रही है।

धर्म : भूतकाल में अभिशाप के साथ-साथ वरदान

पर यह विचित्र विडम्बना है कि यह मनोवेग जिसने मानव एकता और कल्याण के लिए कार्य किया है, मानव-मानव के बीच संघर्ष और अलगाव का कारण भी रहा है। ऐसा लगता है कि विभिन्न धर्म मानो बन्द घेरों के समान हैं और उनमें परस्पर यदि कोई सम्बन्ध हो सकता है तो केवल विरोध का। वे अपने सम्प्रदाय और समुदाय के बन्द घेरों के भीतर जो सद्भावना की शक्ति प्रदर्शित करते हैं, वही बाहर के बृहत्तर संसार के लिए दुर्भावना में बदल जाती है। हर धार्मिक प्रणाली ने अपने अनुयायियों

की सहज में उभरनेवाली धार्मिक भावनाओं को उभाड़कर या तो युद्ध में लगाया है या नर-संहार में या फिर उत्पीड़न में। इस प्रकार समूचे इतिहास में कुछ सर्वाधिक जघन्य अपराध और अमानवी कृत्य धर्म के नाम पर ही किये गये हैं। ये सब धार्मिक इतिहास के कुछ सबसे काले पृष्ठ हैं। इस प्रकार निजी स्तर पर धर्म ने जो भी वरदान दिया हो, लोकस्तर पर जाकर वह सब गँवा दिया गया है।

भारतीय धार्मिक विचारधारा : उसकी विशिष्टता

भारत ही एकमात्र देश है, जहाँ धार्मिक युद्ध और उत्पीड़न नगण्य रहे। ध्यान रखें कि इसका कारण यह नहीं कि भारत में गहरी धार्मिक भावनाओं का अभाव रहा हो। यह कुछ ऐसे आलोचकों का मत है, जिनकी दृष्टि में अपने धर्म के प्रति प्रेम का मतलब ही है दूसरे धर्मों के प्रति घृणा। फिर उसका कारण यह भी नहीं कि धार्मिक दृष्टिकोण में विविधता का अभाव हो। इतिहास दिखाता है और आज भी यह एक सत्य है कि आध्यात्मिक शक्ति तथा उसकी अभिव्यक्ति की विविधता इन दोनों दृष्टियों से विश्व में भारत का स्थान अग्रणी है। तुलनात्मक धर्म का विज्ञान हमें बतलाता है कि सारे विश्व में धार्मिक भावों का विकास लगभग एक ही समान है। किन्तु भारत के बाहर जहाँ यह विकास आदिम स्तर एवं एकेश्वरवाद की धारणा में आकर रुक गया, वहाँ भारतीय आध्यात्मिक प्रतिभा उच्च से उच्चतर उड़ती रही तथा समस्त देवताओं के पीछे उस एकत्व को खोजने में समर्थ हुई। यह सामान्य रूप से धर्मों के इतिहास में एक बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना रही है, क्योंकि यही वह अवस्था है, जहाँ धर्म आंशिक भला और आंशिक बुरा होने के बदले, जैसा कि

वह पूर्व की अवस्थाओं में रहा है, समूची मानवता के लिए समस्त शान्ति एवं समस्त वरदान का सन्देशवाहक हो जाता है'। स्वयं भारत के लिए यह खोज बड़ी महत्त्वपूर्ण रही; क्योंकि इसी के कारण वह धार्मिक उत्पीड़न के अन्तहीन दौर से बचा रहा। यह भाव अपने साथ एक प्रकार का सार्वभौमिक दृष्टिकोण लेकर चलता है। वह बहुत ही युक्तिपूर्ण दर्शन पर आधारित है, जिसे परवर्ती वैदिक विचारधारा ने, विशेषकर उपनिषदों ने, समस्त सत्ता के पीछे उस एकत्व की खोज कर उसके चरम युक्तिसंगत निष्कर्ष में विकसित किया।

साम्प्रदायिकता : उसकी बुराइयाँ और निदान

धर्म के साथ धर्म का सम्बन्ध सद्भावनापूर्ण नहीं रहा है। जो धर्म अपनी जन्मभूमि में अच्छा कार्य करते हुए प्रतीत हुए, वे बाहर जाकर असफल सिद्ध हुए हैं। प्रेम, भ्रातृत्व और शान्ति के बदले घृणा तिरस्कार और संघर्ष बाँटा गया है। धर्म के नाम पर 'एक ईश्वर' के साम्राज्य को विस्तीर्ण करने की 'पवित्र' भावना के नाम पर देशों को नष्ट-भ्रष्ट किया गया है, महान् संस्कृतियों को धूलिसात् कर दिया गया है तथा मनुष्यों के समूहों को मौत के घाट उतार दिया गया है। धर्मान्ध व्यक्ति यह समझ नहीं पाता कि पृथ्वी पर 'स्वर्गराज्य' लाने का उपाय यह नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पेरू, मेक्सिको आदि की प्राचीन संस्कृतियों का जो विनाश साधित हुआ, उससे 'स्वर्गराज्य' की आध्यात्मिक गुणवत्ता कहीं कम ही हुई। धर्म का जो साम्प्रदायिक भाव है, वह आज के पूरी तरह से वैज्ञानिक दृष्टिकोण के एकदम विपरीत है। आज का वैज्ञानिक भाव किसी सम्प्रदाय या समूह के

लिए नहीं अपितु समूची मानवता के लिए है। फल यह हुआ है कि आज के युग में धर्म की गरिमा में गिरावट आयी है। यदि धर्म को आज की दुनिया में एक जीवन्त शक्ति बनना है और मानवता की भावी सभ्यता के उन्मेष में उसे सहभागी होना है, तो उसका पुनर्कथन तथा युक्तिसंगत एवं वैज्ञानिक साँचे में गढ़न आवश्यक है। मानवता का ऐक्य वह आदर्श है, जिसके लिए विज्ञान खड़ा है। बीते हुए युगों के कवियों और दार्शनिकों ने जो महती आशाएँ व्यक्त की हैं, उनकी पूर्ति के लिए विगत तीन शताब्दियों की वैज्ञानिक प्रगति अपने हृदय में असीम सम्भावनाएँ पोसे हुई है। इन सम्भावनाओं के प्रकटन के लिए एक नया भाव, एक नया दृष्टिकोण और एक नया सन्देश चाहिए, जो अपने आकर्षण में सार्वभौमिक हो तथा जो एक ओर तो धर्म और धर्म के बीच सद्भाव स्थापित करे एवं दूसरी ओर विज्ञान और धर्म के बीच। यह सन्देश, यह उद्दीपक संवेग कहाँ से आएगा? इस मथनेवाले प्रश्न का उत्तर पाने के लिए पूर्व और पश्चिम दोनों गोलार्धों के मनीषी भारत की ओर––उसके आध्यात्मिक और दार्शनिक चिन्तन, वेदान्त, के अमूल खजाने की ओर मुड़ते हैं।

वेदान्त : भारतीय चिन्तन और जीवन को उसकी देन

यह कोई दम्भपूर्ण दावा नहीं है। हमने पहले ही देखा है कि किस प्रकार भारतीय चिन्तन ने धार्मिक समन्वय की ओर एक बड़ा कदम तब बढ़ाया, जब उसने पाया कि अन्य सब देवता उस एक ही ईश्वर की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। ऋग्वेद के इस सुप्रसिद्ध मंत्र में यही महान् भाव भरा है––'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'

(१–१६४–४६)—'सत्य एक है, ज्ञानीजन उसी एक को विविध नामों से पुकारते हैं'—यथा इन्द्र, मित्र, वरुण आदि। केवल यही नहीं, अपितु किसी नये विचार को कभी भारत में दबाने की चेष्टा नहीं की गयी—चाहे वह विज्ञान के क्षेत्र में हो या धर्म के अथवा दर्शन के। जहाँ सब ज्ञान ही पवित्र माना जाता है, वहाँ उसके किसी पहलू को दबाना भला कैसे सम्भव है? मुण्डक उपनिषद् (१-२-४) परा और अपरा ऐसी दो विद्याओं की बात करता है—'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैव अपरा च'। सभी विज्ञान, यहाँ तक कि पवित्र वेद भी, केवल अपरा विद्या ही हैं। हम इस सन्दर्भ में स्मरण रखें कि यहाँ पर 'अपरा' का तात्पर्य कोई निकृष्ट या घटिया प्रकार नहीं है, और वैसा तात्पर्य उसका हो भी नहीं सकता। 'अपरा' वह है, जो आंशिक या टुकड़ों में मानवीय अनुभव से प्राप्त होती है। परन्तु जो समग्र अनुभूति या जीवन की समग्रता के अध्ययन के फलस्वरूप मिलती है, उसे 'परा' कहते हैं। और अपरा विद्या के क्षेत्र का हर ज्ञान परा विद्या का ही प्रकाश है। यह परा विद्या ही ब्रह्मविद्या भी कहलाती है। ब्रह्म से तात्पर्य है सत्ता और अनुभूति की समग्रता। यही वह सुप्रसिद्ध वेदान्त दर्शन है, जो भारतीय संस्कृति का सार और आधार है तथा भारतीय चिन्तन का सबसे महकता फूल है। इसी ने भारतीय संस्कृति को उसकी अपूर्वता और अपनी अलग पहचान दी है। वह वेदान्त का ही भाव है, जिसने भारतीय जीवन के सभी रूपों को गढ़ा है तथा सम्प्रदाय और सम्प्रदाय को मिलाकर भारतीय चिन्तन की समृद्ध विविधता को उसका संश्लेषणात्मक एकत्व प्रदान किया है। यही भारतीय

चिन्तन का सम्मोहन है, जो पश्चिम के कई गम्भीर चिन्तकों को धीरे-धीरे अपनी पकड में ले रहा है। जो कहते हैं कि हिन्दू धर्म भ्रमपूर्ण धार्मिक तथा सामाजिक विचारों एवं क्रियाओं की विचित्र खिचड़ी है, उन्होंने वेदान्त को अभी समझा नहीं। भारत और हिन्दू धर्म को समझने के लिए सबसे पहले वेदान्त के भाव के साथ घनिष्ठ परिचय चाहिए। वह वेदान्त की ही बदौलत है जो हम भारत के मौलिक एकत्व की बात करने में समर्थ हैं। और वह वेदान्त की ही बदौलत होगा कि स्वयं मानवता की मौलिक एकता के सम्बन्ध में हम केवल बात करने में ही नहीं अपितु उसे साकार करने में समर्थ होंगे। यदि आज के भारत में धार्मिक समन्वय, सामाजिक प्रगति और राष्ट्रीय एकता का अभाव दीख रहा है, तो उद्दीपक संवेग इस वेदान्त से ही आएगा, क्योंकि यही समस्त विवेक-पूर्ण ज्ञान का आलय है।

भारतीय चिन्तन और श्रीरामकृष्ण

वेदान्त समूचे अस्तित्व के एकत्व का सन्देश देता है। जीवन और चिन्तन में इस सन्देश का सीधा मथितार्थ एक अन्य महान् भाव के रूप में हमारे सामने आता है, जो धर्म की साम्प्रदायिकता का विरोध करता है तथा वैज्ञानिक प्रवृत्ति को सही रूप में सामने रखता है। स्वामी विवेकानन्द इसे व्यक्त करते हुए कहते हैं, "मनुष्य असत्य से सत्य की ओर नहीं बल्कि सत्य से सत्य की ओर जाता है—निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर।"

यदि सत्य एक शंकु (पिरामिड) के समान है, तो एकत्व की दार्शनिक समझ उसका शिखर है। इस चरम उच्चता से देखने पर जीवन या क्रिया का कोई भी पहलू असत्य

या भ्रमात्मक नहीं दिख सकता; क्योंकि सत्य ही सभी पथों का लक्ष्य है। इस महान् विचार को जहाँ तक आधुनिक जीवन की जलती हुई समस्याओं के सन्दर्भ में उपयोगी बनाने का प्रश्न है, उसमें श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द का जीवन तथा सन्देश परम महत्त्व का है। उनके माध्यम से हम भारतीय चिन्तन का, और विशेषकर वेदान्त का, आधुनिक विश्व के प्रति अपनी मानसिक विक्षिप्तता को दूर करने का तथा पृथ्वी पर वह युग लाने का सन्देश सुनते हैं, जिसके सम्बन्ध में तैत्तिरीय उपनिषद् कहता है--'सत्यात्म प्राणारामं मन आनन्दं शान्तिसमृद्धममृतम्' (१/६) --'सत्य, प्राणाराम, मन का आनन्द, शान्ति से समृद्ध और अमृतस्वरूप'।

सार्वजनीनता : पुराना और नया

विश्वधर्म की बात दुनिया में नयी नहीं है। दो अर्थों में उसे समझा गया है। जब कोई अपनी क्षेत्रीय सीमाओं से बाहर निकलता है और विजय तथा बलपूर्वक अपने में लोगों को मिलाने के अभियान में निकल पड़ता है—नये रँगरूटों की वृद्धि करता हुआ, ठीक उसी प्रकार जैसे एक साम्राज्य नये नये क्षेत्र मिलाकर अपना विस्तार साधित करता है, तो वह अपने को विश्वधर्म की खिताब से सम्मानित कर लेता है। ऐसा धर्म अपने सामने एक मोहक आदर्श रख लेता है कि आज नहीं तो कल वह विश्वधर्म बन जाएगा तथा सोचता है कि एकमात्र वही उस उपाधि के लायक है। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं ईसाई धर्म, इसलाम और बौद्ध धर्म। बौद्ध धर्म ऐसे विस्तार के अपने तरीके और उद्देश्य में शेष दोनों धर्मों से सम्पूर्णतः भिन्न है। ईसाइयत और इसलाम के विपरीत, बौद्ध धर्म के प्रसार में शन्ति और

अहिंसा की विशिष्ट भूमिका रही है। यह निस्सन्दिग्ध रूप से भारतीय चिन्तन का ही प्रभाव है, जिसमें बौद्ध धर्म की जड़ें समायी हुई हैं तथा जिसमें से वह निकला है। दूसरी ओर, ईसाई धर्म और इसलाम ने विनाश और उत्पीड़न का अविराम चक्र चलाया है--यह मंशा प्रदर्शित करते हुए कि वे 'पापी आत्माओं' का 'उद्धार' करना चाहते हैं। विश्वधर्म का ऐसा आदर्श आत्मनाशी है। विश्वधर्म का रास्ता आक्रमण और बलप्रयोग में से होकर नहीं जाता। वह तो प्राचीन बाइबिल (पुरानी इंजील)का ही तरीका हो गया, जहाँ जब कोई कबीला दूसरे को विजित कर लेता है तो उसके देवता को नष्ट कर उस पर अपना देवता लाद देता है। यही भाव आज भी काम कर रहा है, अन्तर केवल इतना है कि कबीलों के स्थान पर आज विदेशी संस्कृतियाँ और धर्म हैं। जब विश्वधर्म के ऐसे दो दावेदार हो जाते हैं, जो समानरूप से बली, उत्साही और मतान्ध हों, तब सार्वजनीनता का यह भाव अपने को ही परास्त कर लेता दिखाई देता है। सच तो यह है कि 'मेरा देवता ही एकमात्र सच्चा देवता है और तुम्हें उसको अवश्यमेव स्वीकार करना चाहिए' एवं 'मेरा देवता और तुम्हारा देवता दोनों एक और समान ही हैं, अन्तर मात्र नाम का है'--इन दो प्रकार की घोषणाओं में आकाश-पाताल का अन्तर है। जब भी कोई धार्मिक मत, जो निष्ठापूर्वक अपनाया गया है, विचलित और विनष्ट कर दिया जाता है, तो विश्वधर्म का उद्देश्य अपने को खत्म कर लेता है।

विश्वधर्म का जो दूसरा अर्थ है, वह अकबर तथा कतिपय आधुनिक सम्प्रदायों और आन्दोलनों की सारसंग्रह-वृत्ति के माध्यम से प्रकट होता है। सारसंग्रहवाद चुने हुए

सुन्दर पुष्पों के गुलदस्ते के समान है, और गुलदस्ते के समान होने के कारण उसमें कोई संजीवनी सिद्धान्त नहीं है तथा वह मुरझाकर नष्ट ही हो जानेवाला है। इसका दूसरा खतरनाक पक्ष यह है कि उसमें अपने को एक बन्द घेरे में समेट लेने की प्रवृत्ति होती है, और यह उसके उद्देश्य को ही समाप्त कर देती है। वह कहता है, "दुनिया में बड़ी साम्प्रदायिकता है; उसको नष्ट करना ही पड़ेगा; इसलिए चलो एक नया सम्प्रदाय बनाएँ।" यह सुनने में युद्धकाल की उस प्रसिद्ध भावना के समान लगता है—'युद्धों को समाप्त करने के लिए एक युद्ध'! किन्तु जिस प्रकार प्राचीनतर सम्प्रदायों में से एक भी न्यायोचित रूप से सार्वजनीनता का अधिकारी नहीं है, उसी अकाट्य तर्क के बल पर कोई नया सम्प्रदाय भी उसका दावेदार नहीं बन सकता।

विश्वधर्म सम्बन्धी श्रीरामकृष्ण का भाव

उपर्युक्त विश्लेषण के द्वारा हमने देखा कि कोई भी धर्म व्यक्तिगत रूप से सार्वजनीन बनने का अधिकारी नहीं है। अनेकता में एकता ही सार्वजनीनता की कसौटी है—जड़, मृत एकसमानता नहीं। पूर्वोक्त दो धारणाओं के नितान्त विपरीत श्रीरामकृष्ण का विश्वधर्मसम्बन्धी आदर्श है, जिसका पहला तत्त्व है—'यदि एक धर्म सत्य है, तो उसी तर्क के बल पर-अन्य सब धर्म भी सत्य हैं।" और इसका सत्यापन इस तथ्य पर आधारित है कि "सन्तत्व, पवित्रता और उदारता दुनिया के किसी चर्चविशेष की बपौती नहीं है तथा हर प्रणाली ने समुन्नत चरित्र के नर-नारियों को पैदा किया है।" इसलिए इस महान् शिक्षक ने हर धर्म को अविचलित रहने दिया। उन्होंने कोई नया धर्म भी नहीं

शुरू किया। फिर भी उनका जीवन सच्चे धर्म का महानतम प्रमाण था। यही नहीं, वह धर्मों का एक जीवन्त सम्मेलन था। वे हिन्दू धर्म के विभिन्न पन्थों में से होकर गय और प्रत्येक में पूर्णता हासिल की। इसी से सन्तुष्ट न हो उन्होंने एक धर्मप्राण ईसाई और निष्ठावान् मुसलिम का जीवन बिताया तथा उन धर्मों के लक्ष्य को पा लिया। अपने समस्त प्रयोगों के फलस्वरूप उन्होंने यह अनुभव किया कि सभी धर्म मूलतः एक हैं, वे उसी एक सत्य की शिक्षा देते हैं तथा एक ही लक्ष्य पर पहुँचा देते हैं। उनके अपने शब्दों में—"ईश्वर के नाम अनेक हैं और रूप भी अनेक हैं, जो उनको जानने में हमें सहायता देते हैं। जिस नाम या रूप में तुम उन्हें चाहते हो, वे उसी रूप में और उसी नाम में तुम्हें दर्शन देंगे। विभिन्न मत उसी एक ईश्वर के पास पहुँचने के अलग-अलग रास्ते हैं। कालीघाट की माँ-काली के पास जाने के बहुत से मार्ग हैं और वे सब अलग-अलग हैं। वैसे ही भगवान् के घर मनुष्य को ले जाने के विविध मार्ग हैं। हर धर्म इन्हीं रास्तों में से एक है।"

वे पुनः कहते हैं—"माँ अपने बीमार बच्चों के लिए पथ्य तैयार करती है; किसी के लिए भात-झोल बनाती है, किसी के लिए साबूदाना-बार्ली तैयार करती है, फिर तीसरे के लिए डबलरोटी-मक्खन रखती है, वैसे ही ईश्वर ने मनुष्यों की रुचि देखते हुए अलग अलग रास्ते रखे हैं।"

इससे क्या होता है? श्रीरामकृष्ण को ही फिर से उद्धृत करें—"व्यक्ति को अपने धर्म का अनुसरण करना चाहिए। ईसाई को ईसाई धर्म का पालन करना चाहिए और मुसलमान को इसलाम धर्म का। हिन्दुओं के लिए सनातन पथ—आर्य ऋषियों का रास्ता ही उत्तम है। सच्चे

धार्मिक व्यक्ति को ऐसी भावना रखनी चाहिए कि दूसरे धर्म भी सत्य के पास जाने के विभिन्न मार्ग हैं। हमें अन्य धर्मों के प्रति सदैव आदर का भाव रखना चाहिए।"

इस प्रकार श्रीरामकृष्ण के मत में बहुत से सम्प्रदायों और धर्मों का होना विश्वधर्म में बाधक तो होता ही नहीं, अपितु उसको साकार करने में सहायक होता है। सम्प्रदाय तब तक बढ़ें न, जब तक हर व्यक्ति को अपने लिए एक धर्म नहीं मिल जाता। जैसे स्वाद, दृष्टिकोण और सामर्थ्य में कोई भी दो व्यक्ति समान नहीं होते, वैसे ही कोई भी एक धर्म सबकी आवश्यकताओं को पूरी तरह से पूरा नहीं कर सकता। इसलिए सम्प्रदायों का बढ़ना उचित है, जब तक कि वे स्वयं मानवता के ही साथ एकाकार नहीं हो जाते। परन्तु साम्प्रदायिकता को नहीं रहना चाहिए। वह जब दूर होगी, तभी विश्वधर्म का आदर्श साकार होगा। वास्तव में वह तो पहले से ही विद्यमान है, किसी को उसकी सृष्टि नहीं करनी पड़ती; हाँ, हर व्यक्ति को उसे अपने तईं आविष्कृत करना पड़ता है। साम्प्रदायिकता की बेसुरी और कर्कश तान उसकी सुमधुर स्वर-मंजुलता को नष्ट कर देती है। और यह साम्प्रदायिकता तभी दूर होगी, जब दुनिया श्रीरामकृष्ण द्वारा उपदिष्ट धर्म-समन्वय के इस नये आदर्श को समझेगी, जब लोग सत्य को हर सम्प्रदाय में देखना सीखेंगे और हर मानव-हृदय में उठनेवाली सत्य के प्रति व्याकुलता को प्रकाश और सत्य की ओर बढ़ने की प्रेरणा मान उसके प्रति सहानुभूति रखने की शिक्षा पाएँगे।

निष्कर्ष

विश्वधर्म का यह आदर्श आधुनिक मनोवृत्ति और दृष्टि-भंगी के साथ सर्वाधिक मेल खाता है। इससे विभिन्न धर्म

आपस में टकरानेवाली इकाइयाँ न बन, मानव-कल्याण के लिए मिलकर काम करने में समर्थ होते हैं। ऐसा धार्मिक सद्भाव मानव-भ्रातृत्व एवं मानव-सम्बन्धों को जन्म देगा तथा मनुष्यों की समष्टिगत बुद्धि और प्रयत्न को मानवता की परिपूर्ण सभ्यता एवं विश्व-संस्कृति के विकास की दिशा में कार्य करने में समर्थ बनाएगा।

○

श्रीरामकृष्ण
शताब्दी से सार्ध शताब्दी

शंकरी प्रसाद बसु

(प्रोफेसर बसु बंगला के प्रख्यात मनीषी और साहित्यकार हैं। इन्होंने कई खोजपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें 'विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष' (बंगला, ४ खण्डों में) तथा 'निवेदिता लोकमाता' (बंगला, २ खण्डों में) विशेष रूप से उल्लेखयोग्य हैं। सुधी लेखक को उनकी कृतियों पर प्रतिष्ठापूर्ण 'अकादमी पुरस्कार' और 'विवेकानन्द पुरस्कार' आदि से सम्मानित किया गया है। उनका प्रस्तुत लेख बँगला साप्ताहिक 'देश' के ८-३-१९८६ अंक से साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है। अनुवादक हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। —स०)

श्रीरामकृष्ण का आविर्भाव १८ फरवरी १८३६ को हुआ था और महाप्रयाण सन् १८८६ ई. के १५ अगस्त की मध्यरात्रि को (अँगरेजी गणना के अनुसार १६ अगस्त को)। उनकी जन्म-शताब्दी १९३६ ई. में मनायी गयी थी। उनके जन्म की सार्धशताब्दी इस वर्ष—१९८६ में—मनायी जा रही है।

वर्तमान प्रसंग में हमें इन चारों वर्षों (१८३६, १८८६, १९३६, १९८६) को ध्यान में रखना होगा।

हुगली जिला के देरे नामक गाँव में एक साधारण परिस्थितिवाले ब्राह्मण इतने सत्यनिष्ठ और साहसी व्यक्ति थे कि एक मुकदमे में फँसे अपने गाँव के जमींदार रामानन्द राय के कहने पर भी झूठी गवाही देने के लिए राजी नहीं हुए। नतीजा यह हुआ कि उन्हें गाँव से निकाल दिया गया। तब उन्होंने एक निकटवर्ती गाँव कामारपुकुर में

आश्रय लिया। वहाँ उनके मित्र सुखलाल गोस्वामी की उदारता से छोटा सा धान का खेत मिल गया, जिससे पेट में कुछ अन्न डालने की और धर्म की रक्षा की व्यवस्था हो गयी। उनके ढेंकीघर में गदाघर का जन्म हुआ। जन्म के तुरन्त बाद ही वह शिशु खिसलकर चूल्हे की राख पर पहुँच गया। धनी लुहारिन उसे वहाँ से उठाकर ले आयी।

उस दिन उस नवजात शिशु को देखने वहाँ कितने लोग आये, यह तो मैं नहीं जानता, पर अधिक लोगों के आने की सम्भावना नहीं थी।

इसके बाद पचास वर्ष बीत गये। सन १८८६ ई० के १६ अगस्त की अपराह्न वेला। गदाधर चट्टोपाध्याय (अब रामकृष्ण) का देहान्त हो गया है। उस समय के प्रसिद्ध साहित्यिक और पत्रकार नगेन्द्रनाथ गुप्त खबर मिलते ही काशीपुर उद्यानभवन आ पहुँचे। वहाँ उन्होंने जो देखा, यह उन्हीं के शब्दों में सुनिए--"मैंने जाकर देखा, भवन के पोर्टिको के सामने दुग्धधवल शय्या पर उन्हें लिटाया गया है। विवेकानन्द और अन्यान्य भक्तगण अश्रुपूर्ण नेत्रों से खाट को चारों ओर से घेरकर जमीन पर बैठे हुए हैं। परमहंसदेव दाहिनी करवट लेटे हैं, उनके सारे शरीर पर निर्वाण की अनन्त नीरवता और शान्ति विराजित है। चारों ओर शान्ति है--मौन वृक्षों पर, ढलते हुए दिन पर, ऊपर नीले आकाश में और आकाश में उड़ते मेघखण्डों में सर्वत्र शान्ति छायी है। महामृत्यु के सामने सम्भ्रम और श्रद्धा से स्तब्ध हो जब हम बैठे थे, ठीक उसी समय बादल से वर्षा की कुछ बड़ी बड़ी बूंदें टपकीं, मानो पुष्प बरसाये गये हों। आर्यसाहित्य में हम पढ़ते

हैं, जब देवताओं का कोई दुलारा व्यक्ति पृथ्वी का त्याग कर देवलोक की यात्रा करता है, तो देवता पुष्पवृष्टि करते हैं। ये जलबिन्दु मानो वैसे ही गिराये गये फूलों के दल थे। रामकृष्ण परमहंस का उनके जीवित रहते दर्शन परम सौभाग्य की बात थी——मृत्यु की गोद में लेट उनके शान्त मुखमण्डल का दर्शन भी उसी प्रकार का सौभाग्य था।"

उस 'सौभाग्य' का लाभ उठाने कितनी संख्या में लोग वहाँ उपस्थित थे? अवश्य ही संख्या अधिक नहीं थी। १९ अगस्त के 'इण्डियन मिरर' में यह अवश्य लिखा था कि उनके शव को लेकर श्मशान की यात्रा में 'बहुत से' भक्त सम्मिलित हुए थे, फिर भी वह संख्या सौ-डेढ़ सौ से अधिक नहीं थी, यह हम 'धर्मतत्त्व' पत्रिका के ३१ अगस्त के अंक में छपे विवरण को देखने से समझ जाते हैं (सम्भवत: उस समय इस संख्या को 'बहुत' माना जाता रहा हो):

"प्रथम भाद्र, सोमवार को अपराह्न पाँच बजे काशीपुर-स्थित गोपालबाबू के उद्यानभवन से परमहंसदेव का पार्थिव शरीर वराहनगर के श्मशानघाट में लाया गया। कलकत्ता से सौ-डेढ़ सौ लोग उनकी अन्त्येष्टि में सम्मिलित हुए थे। एक नये खटोले के ऊपर मनोहर शय्या बनायी गयी थी, जिसे पुष्पगुच्छों और पुष्पमालाओं से अच्छी तरह से सजाया गया था। नये गेरुए वस्त्र और पुष्पमालाओं से उनका शरीर सुशोभित हो रहा था। परमहंस के शिष्यों और भक्तमण्डली ने भक्तिपूर्वक उनके चरणों को पकड़कर प्रणाम किया तथा खटोले को कन्धों पर उठाकर हरि-ध्वनि करते करते उद्यानभवन के प्रांगण

से बाहर निकले। वैष्णवों का एक दल मृदंग तथा करताल के साथ संकीर्तन करते हुए आगे आगे जा रहा था।... संस्कार के विधि-नियम का ज्ञान रखनेवाले चार लोग शव के साथ श्मशान तक गये और अन्त्येष्टि में सहयोग दिया। हिन्दू धर्म के त्रिशूल तथा ॐ, बौद्ध धर्म की कलछी, इसलाम धर्म के अर्धचन्द्र तथा ईसाई धर्म के सलीब चिह्नों से अंकित पताकाएँ सबसे आगे ले जायी जा रही थीं।... संगीतज्ञ भाई त्रैलोक्यनाथ सान्याल ने अपने मित्रों के अनुरोध पर समयोचित तीन-चार गाने गाये।...परमहंसदेव के नेत्रद्वय तनिक खुले हुए थे तथा मुखमण्डल पर हल्की-सी मुसकान खेल रही थी। इससे लगता था कि समाधि-अवस्था में उन्होंने प्राण त्यागे थे।"

अग्निदाह के पश्चात् भक्तों ने अवशिष्ट कुछ अस्थियों का एक कलश में चयन करके रख लिया था। उन अस्थियों का संरक्षण कौन करेगा, इस प्रश्न को लेकर कुछ सम्पन्न गृही भक्तों तथा सम्बलहीन युवक-शिष्यों के बीच मत-भेद होने पर भी समझदार गृही भक्तों की सलाह से यह निर्णय हुआ कि डाक्टर रामचन्द्र दत्त के काँकुड़गाछी के उद्यानभवन में वह कलश रखा जाएगा। तदनुसार ('सुलभ समाचार' पत्रिका के २६ अगस्त के अंक का समाचार)—

"विगत सोमवार (२३ अगस्त १८८६) को प्रातःकाल नौ बजे सिमुलिया स्ट्रीट के १३ नवम्बर के भवन से भगवन्नाम संकीर्तन के साथ सम्भ्रान्त व्यक्तियों का एक दल दिवंगत रामकृष्णदेव परमहंस के अस्थिपूर्ण ताम्र-कलश को लेकर श्रद्धापूर्वक बाहर निकला। उस मण्डली में अनुमान से पचास लोग रहे होंगे। आगे-आगे मृदंग, करताल और सिंगा के साथ बीडन स्ट्रीट थियेटर

के कुछ अभिनेताओं का एक संकीर्तन दल था और उनके पीछे कुछ आधुनिक नवयुवक पखावज के साथ एक नव-रचित संगीत का गान करते हुए चल रहे थे। परमहंस महाशय के शिष्यगण बारी बारी से उस कलश को अपने मस्तक पर धारण करते हुए चल रहे थे। कलश को पुष्प मालाओं से सजाया गया था। उसके ऊपर बहुमूल्य छत्र धारण किया गया था, बाजू से बड़े राजपंखे से व्यजन किया जा रहा था, दोनों ओर से चँवर डुलाये जा रहे थे और सबसे पीछे नवविधान के दो प्रचारक सिर झुकाकर चल रहे थे। सिमुलिया से काँकुड़गाछी के ८० नम्बर के उद्यान में पहुँचकर ईंटों से बने एक समाधिगह्वर में कलश को रख दिया गया और बहुतों ने पुष्प अर्पित करते हुए भक्ति-पूर्वक प्रणाम किया।"

पचास भक्तों के द्वारा अनुगमन, एक उद्यानभवन में अस्थि-संरक्षण, फिर बाद में वहाँ साधक रामकृष्ण का स्मृतिमन्दिर, कुछ भक्तों द्वारा विनम्र चित्त से परवर्ती-काल में आवागमन—इस प्रकार इस प्रकरण की समाप्ति हो सकती थी। आशा भी यही की गयी थी। 'परमहंस की विधवा स्त्री' को मासिक भत्ते की भला क्या जरूरत है?—ऐसा सोचकर दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर से मिलनेवाले सात रुपये के मासिक अनुदान को बन्द करा दिया गया था, और वे पति के निर्देश का पालन करती हुई अपनी ससुराल कामारपुकुर में जाकर पुश्तैनी झोपड़ी में रहते हुए, फटी साड़ी में गाँठ का पैबन्द लगाकर, किसी तरह भाजी-भात खाकर अपने दिन बिता रही थीं; तथा परमहंस के कुछ 'पागल छोकरे' शिष्य घर-संसार छोड़कर वराहनगर के टूटे-फूटे मकान में कभी भूखे पेट और कभी आधे पेट, अर्ध-

नग्न और कभी नग्नता की अवस्था में रहते हुए जप,ध्यान, शास्त्रपाठ करते तथा ऊँची आवाज में संगीत आदि गाते हुए अपना समय बिता रहे थे। फिर उन्हीं में से कोई कोई तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़े थे। अतः भविष्य का कोई ठिकाना नहीं था। परमहंसदेव के पास उस समय के विख्यात पण्डितों और गुनीजनों का आगमन (अथवा उन विख्यात लोगों के दर्शन के लिए इनका गमन), सर्वोच्च शिक्षित लोगों द्वारा इस 'अशिक्षित' मनुष्य की बातों का घण्टों पर घण्टे बैठकर श्रवण तथा आध्यात्मिक भावावेश के समय इनकी अद्भुत अवस्थाओं का पर्यवेक्षण---ये सब आश्चर्यजनक बातें इतिहास के गर्भ में स्मृति बनकर लीन हो सकती थीं ! पर जाने विधाता की क्या इच्छा थी ! परमहंस के एक शिष्य नरेन्द्रनाथ दत्त विवेका-नन्द का नाम ग्रहण कर पृथ्वी पर कूद पड़े और पृथ्वी के मनोराज्य के पर्याप्त भाग पर अपना अधिकार जमा लिया। उनकी उस कीर्तिगाथा का प्रभाव इस देश के जनमानस पर पड़ा, और उसके फलस्वरूप, भले ही विवेकानन्द तब अमेरिका से लौटकर भारत नहीं आये थे, फिर भी दक्षिणेश्वर के रामकृष्ण-जन्मोत्सव में कम से कम बीस हजार लोगों का समागम हुआ, जो उस समय के लिए एक विशाल जनसमूह माना जाता था। ('इंडियन नेशन' १९-३-१८९४)। १८९५ ई. में वह संख्या और बढ़ी तथा बढ़ती ही चली।

९ अगस्त १८९५ को स्वामी विवेकानन्द ने ई.टी. स्टर्डी को पत्र में जो लिखा था, वह 'विवेकानन्दीय उच्छ्-वास' का बिलकुल भी नमूना नहीं था, "जब मेरे गुरुदेव ने देहत्याग किया था, तब हम लोग थे मात्र बारह अज्ञात,

अनाम, कौड़ीशून्य युवक। हमारे विपक्ष में बहुत से शक्ति-शाली लोग थे। वे प्रारम्भ में ही हमें रौंद डालने के लिए एड़ी-चोटी एक कर रहे थे। लेकिन श्रीरामकृष्ण हमें एक महान् सम्पदा दे गये थे—वह केवल बातों की माला गूँथना नहीं थी, बल्कि वह थी यथार्थ जीवनयापन करने की ऐकान्तिक इच्छा और निरन्तर संग्राम करने की शक्ति। आज सारा भारतवर्ष उन्हें जानता है, उनको श्रद्धा करता है। उनके द्वारा प्रचारित सत्य दावाग्नि की तरह दिग्दिगन्त में फैल गया है। दस वर्ष पूर्व उनके जन्मतिथि-उत्सव में मैं सौ व्यक्ति भी नहीं जुटा पाया था, पिछले वर्ष वहाँ पचास हजार लोग इकट्ठे हुए थे!"

उपर्युक्त पत्र के चार वर्ष बाद स्वामीजी ने 'रामकृष्ण और उनकी उक्ति' शीर्षक से एक प्रबन्ध लिखा था, जिसमें उन्होंने रामकृष्ण के इस अचानक विपुल विस्तार से दुःखी हुए व्यक्तियों के प्रति मधुर भाषा में निवेदन किया था—आपमें से जो अपने आपको महापण्डित समझ-कर इस मूर्ख दरिद्र पुजारी ब्राह्मण के प्रति उपेक्षा दिखाते हैं, उनके प्रति हमारा यह निवेदन है कि जिस देश के एक मूर्ख पुजारी ने आप लोगों के पिता-पितामह से आये हुए सनातन धर्म की जयघोषणा अपनी शक्ति के बल पर अत्यल्प समय में सात समुद्र पार भी गुँजा दी, आप लोग तो उस देश के सब लोगों द्वारा मान्य शूरवीर महापण्डित हैं—आप तो इच्छा करने से अपने देश और अपनी जाति के कल्याण के लिए और भी कितने ही अद्भुत कार्य कर सकते हैं। तो उठिए, सामने आइए और महाशक्ति का खेल दिखाइए—हम हाथ में पुष्प-चन्दन लेकर आपके पूजन के लिए खड़े हैं—हम तो मूर्ख, दरिद्र, नगण्य, भेखधारी

भिक्षुक हैं ।"...

इसके पन्द्रह वर्ष बाद जनमानस पर, विशेषकर युवा मानस पर, रामकृष्ण आश्रम-समूह का जो प्रभाव था, उससे आतंकित हो चार्ल्स टेगर्ट ने भारत-स्थित ब्रिटिश सरकार की ओर से रामकृष्ण मिशन के बारे में जो रिपोर्ट प्रस्तुत की, उससे पता चलता है कि मिशन में उस समय संन्यासियों की संख्या थी ३५, ब्रह्मचारियों की २६ तथा ब्रह्मचारी के रूप में योगदान करने के इच्छुकों की ७। भारत में मुख्यालय बेलुड़ मठ द्वारा स्वीकृत शाखाओं की संख्या १० थी। इसके अतिरिक्त बरसाती छत्रकों की तरह उपजनेवाले असंख्य ग्राम-आश्रमों का भी उल्लेख उस रिपोर्ट में मिलता है।

॥ २ ॥

टेगर्ट रिपोर्ट के २२ वर्ष बाद तथा सन् १९२६ में हुए रामकृष्ण संघ के प्रथम महासम्मेलन के दस वर्ष पश्चात्, सन् १९३६ ई. में, रामकृष्ण मिशन ने वर्ष-व्यापी शताब्दी-समारोह का आयोजन किया था। उसके अन्तिम पर्व के रूप में कलकत्ते में आयोजित हुई धर्ममहासभा। शताब्दी के उपलक्ष में ये जो सारे अनुष्ठान हुए, विशेषकर धर्ममहासभा के उपलक्ष में जो अन्तर्राष्ट्रीय समागम हुआ, वह उस समय तक के लिए इस देश के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना थी। यह सब देखकर 'माडर्न रिव्यू' पत्रिका के दूरदर्शी, स्थिर-बुद्धि सम्पादक, रामानन्द चट्टोपाध्याय बिना बोले नहीं रह सके—

"The Sri Ramakrishna Centenary celebrations, which had been going on for a year, came to a close

last month in Calcutta with a Parliament of Religions. This assembly held some eight sessions. Several important addresses were delivered and erudite papers were read. The meetings were held in the Calcutta Town Hall, which was over-crowded every day with unprecedentedly large gatherings. Only on one day, when the poet-sage Rabindranath Tagore delivered his presidential address, the meeting was held in the Calcutta University Institute Hall, which was full to overflowing. The assembly was attended by men and women from distant lands. Such gatherings were never before seen in Calcutta.

"The followers of Sri Ramakrishna have given evidence in the centenary celebrations of great powers of organization and of giving publicity to what they wanted the public to know." (Modern Review, April 1937).

——अर्थात् "श्रीरामकृष्ण शताब्दी समारोह, जो पिछले एक साल से चल रहा है, पिछले महीने कलकत्ते में एक धर्ममहासभा के आयोजन के साथ समाप्त हुआ। इस सभा में आठ सत्र थे, जिनमें कई महत्त्वपूर्ण भाषण दिये गये तथा विद्वत्तापूर्ण शोधपत्र पढ़े गये। महासभा के ये सत्र कलकत्ते के टाउनहॉल में भरते थे, जिनमें प्रतिदिन श्रोताओं की उमड़ती भीड़ से स्थानाभाव हो जाया करता था। केवल एक दिन, जब ऋषि-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपना अध्यक्षीय भाषण दिया था, सम्मेलन कलकत्ता यूनिवर्सिटी इन्स्टीट्यूट हॉल में आयोजित हुआ था। उस दिन भी खचाखच भीड़ थी। . . दूर देशों से आये स्त्री-पुरुष उसमें सम्मिलित हुए थे।

कलकत्ते में श्रोताओं की ऐसी भीड़ पहले कभी नहीं देखी गयी।

"श्रीरामकृष्ण के अनुयायियों ने इस शताब्दी समारोह में अपनी महती संगठन-शक्ति का तथा वे चाहते थे कि जिसे जनता जाने उसे जनता के सामने रखने की अपनी प्रचार-कला का परिचय दिया है।"

रामानन्द चट्टोपाध्याय ने कहा था, "इस प्रकार का सम्मेलन कलकत्ते में इसके पूर्व कभी नहीं देखा गया।" उनके कथन के साथ हम सावधानी और विनय पूर्वक यह वाक्य जोड़ सकते हैं कि जब तक सामाजिक और सांस्कृतिक जगत् में एक नवीन आन्दोलन होकर फिर से नवयुग की सूचना नहीं होती, तब तक भविष्य में इस प्रकार का सम्मेलन होने की कोई सम्भावना दिखाई नहीं देती। इसका यह अर्थ नहीं कि देश-विदेश से गुणी और विद्वान् व्यक्ति भारतभूमि में सम्मिलित नहीं होंगे होंगे--और काफी बड़ी संख्या में होते रहेंगे, क्योंकि यह जेट विमान का युग है,--किन्तु क्या रवीन्द्रनाथ ठाकुर, ब्रजेन्द्रनाथ शील और स्वामी अभेदानन्द को एक साथ पाया जा सकेगा? क्या पाया जा सकेगा महात्मा गाँधी के दूत काका कालेलकर को या राजनीतिज्ञ कवियित्री सरोजिनी नायडू को या रहस्यवादी वेदान्ती स्वामी परमानन्द को, पर्वतारोही और धर्मतत्त्व के विख्यात पण्डित सर फ्रांसिस यंग हजबैण्ड को, इतिहासविद् डी. आर. भण्डारकर को, शास्त्रज्ञ महामहोपाध्याय प्रमथनाथ तर्कभूषण को? इस सम्मेलन में संगठन-समिति के अध्यक्ष थे श्रीरामकृष्ण के शिष्य स्वामी अखण्डानन्द, सह-सभापतियों में से एक थे

श्रीरामकृष्ण के ही एक दूसरे शिष्य स्वामी विज्ञानानन्द, तथा उनके साथ ही थे रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रोमाँ रोलाँ, डा० राजेन्द्रप्रसाद, डा० एम. आर. जयकर, डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, सर मन्मथनाथ रायचौधरी, एन. सी. केलकर, सर तेजबहादुर सप्रू, सर जे. सी. बोस, सर देवप्रसाद सर्वाधिकारी, सर ए. कृष्णस्वामी अय्यर, सर सी. पी. रामस्वामी अय्यर, रामानन्द चट्टोपाध्याय, डा० एन. बी. खरे, सर पी. सी. राय, सर नीलरतन सरकार, श्यामाप्रसाद मुखोपाध्याय, ए. एफ. रहमान, कामाक्षी नटराजन्, सर मिर्जा इस्माइल, सिलभा लेर्भी, माधव श्रीहरि अणे, ए. के. फजलूल हक तथा साथ ही सम्पूर्ण भारत से समागत कई मठाधीश संन्यासी। इन सब लोगों ने कमेटी में रहने की अपनी जो स्वीकृति दी थी, वही बहुत बड़ा समाचार थी। बहुत से साधारण सदस्यों में थे स्वयं महात्मा गाँधी तथा पण्डित मदनमोहन मालवीय, डा० ज्ञानचन्द्र घोष, डा० रमेशचन्द्र मजुमदार, डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, अनुरूपा देवी, काउण्ट कैजरलिंग, रेवरैण्ड जे. टी. सैण्डरलैण्ड, डा० तारकनाथ दाश, आनन्द कुमारस्वामी, डा० महेन्द्रनाथ सरकार, सुरेन्द्रनाथ ठाकुर, राजशेखर बसु, डा० सत्येन्द्रनाथ बसु, डा० हरेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, नन्दलाल बसु, डा० सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय, अध्यापक देवप्रसाद घोष, हीरेन्द्रनाथ दत्त, शरत्चन्द्र बसु, डा० विधानचन्द्र राय, डा० कालिदास नाग—एवं प्रधान संगठकों की सूची में अध्यापक विनयकुमार सरकार का नाम था।

मैंने यहाँ जान-बूझकर ही बहुत से विख्यात विदेशी मनीषियों का नाम नहीं दिया है। देश तथा विदेशों के जाने-माने बहुत से लोगों ने शुभकामनाएँ भेजी थीं, अनेक प्रख्यात मनीषियों ने अपने लेख भेजे थे या आकर पढ़े थे, कई देशों के विशिष्ट स्त्री-पुरुषों ने सम्मेलन में भाग लिया था---इस सबके विवरण में मैं नहीं जाना चाहता। न ही मैं यह बताना चाहता हूँ कि किस प्रकार भारत के अनेक स्थानों में तथा विश्व के कुछ नगरों में इस उत्सव का आयोजन किया गया। यहाँ पर मैं केवल' दो व्यक्तियों का उल्लेख करना चाहूँगा। प्रथम हैं ब्रजेन्द्रनाथ शील।

समकालीन भारतीय दार्शनिकों के सिरमौर ब्रजेन्द्रनाथ शील ने धर्ममहासभा के मूल सभापति के रूप में प्रदत्त अपने भाषण में श्रीरामकृष्ण के धार्मिक तथा दार्शनिक आधार का सुचारु रूप से विश्लेषण किया था। उनकी शुरुआत इस प्रकार की थी---

"पचीस वर्षों स भी अधिक पहले भगिनी निवेदिता के अनुरोध पर मैंने एक लेख लिखा था, शीर्षक था 'विवेकानन्द के मानसिक क्रमविकास का एक प्राथमिक अध्याय'। उस लेख के अन्त में मैंने अपनी उस यात्रा का ब्योरा दिया था, जिसमें मैं विवेकानन्द के गुरु के दर्शन करने गया था। आँधी-तूफान से भरी उस सन्ध्या में बादल गरज रहे थे और बिजली कौंध रही थी। रामकृष्ण के दर्शन ने मेरे मन में जिस मन्थन को जन्म दिया था, यह नैसर्गिक अवस्था उसमें उपयोगी बनी थी। और अब मेरी मृत्यु समीप है---मन शान्त और निर्लिप्त है। अपनी इस अवस्था में मुझे उस मनुष्य के शताब्दी-समारोह

में भाग लेने का सौभाग्य मिला है, जो इस पृथ्वी में देश और काल से अतीत रहकर अवस्थान करते थे।"

श्रीरामकृष्ण जिस प्रकार प्रत्येक धर्म के समस्त आचरण को ग्रहण करके उसकी साधना करते थे इसका उल्लेख कर ब्रजेन्द्रनाथ शील ने कहा था, "उनके इन सब कर्मों में कोई पद्धति नहीं थी, फिर यह भी नहीं कि वे सब काल्पनिक व्यापार रहे हो। यहाँ एक ऐसे आत्मवान् पुरुष का दर्शन मिला, जिन्होंने धर्मजीवन तथा इतिहास की समस्त मानवीय अभिज्ञता से अपने आपको समृद्ध कर लिया था। इस तरह उन्होंने हिन्दू परम्परा को मूल्यवान् उपादानों से युक्त किया था—इसलाम धर्म से लिया था साम्य एवं मानव-भ्रातृत्व का बोध तथा ईसाई धर्म से ली थी पाप-मोचन की प्रयोजनीयता।"

सार्वजनीन धर्म के क्षेत्र में राममोहन तथा केशवचन्द्र के वक्तव्यों की समीक्षा करने के उपरान्त उन्होंने यह बताया कि उनके साथ रामकृष्ण के दृष्टिकोण की समानता तथा विषमता कहाँ है और फिर यह बतलाते हुए कि अन्ततोगत्वा रामकृष्ण का पथ क्यों अवलम्बनीय है, वे बोले—

"What we want is not merely Universal Religion in its quintessence, as Rammohan sought it in his earlier days—not merely an eclectic religion by compounding the distinctive essences, theoretical as well as practical, of the different religions, as Keshubchandra sought it, but experience as a whole as it has unfolded itself in the history of man, and this can be realised by us, as Ramakrishna taught, by syncretic practice of Religion by being a Hindu with the Hindu,

a Moslem with the Moslem, a Christian with the Christian, and a Universalist with the Universalist, and all this as a stepping stone to the Ultimate Realisation of God-in-Man and Man-in-God."

--अर्थात् "हमें मात्र ऐसे विश्वधर्म की उसके विशुद्धतम रूप में आवश्यकता नहीं है, जिसे राममोहन ने अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनों में अपनाया था; हमें मात्र ऐसे सर्वग्राही धर्म की भी जरूरत नहीं है, जो विभिन्न धर्मों के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विशिष्ट सारतथ्यों को मिलाकर बनाया गया हो, जिसे केशवचन्द्र सेन ने अपनाया था: हम तो समग्रगत वह अनुभूति चाहते हैं, जो अपने को मानव के इतिहास में प्रकट करती रही है। और यह अनुभूति, जैसा कि रामकृष्ण ने सिखलाया, धर्म के समन्वयवादी अभ्यास से प्राप्त की जा सकती है—हिन्दू के साथ हिन्दू, मुसलमान के साथ मुसलमान, ईसाई के साथ ईसाई और विश्ववादी के साथ विश्ववादी बनकर, और इस सब को 'नर-में-नारायण' और 'नारायण-में-नर' की चरम उपलब्धि का सोपान बनाकर।"

ब्रजेन्द्रनाथ शील ने शताब्दी-समारोह के उपलक्ष में यूनिवर्सिटी इन्स्टीट्यूट में आयोजित एक छात्रसभा का भी सभापतित्व किया था। उसका उद्घाटन कलकत्ता विश्व-विद्यालय के कुलपति डा० श्यामाप्रसाद मुखोपाध्याय (मुखर्जी) ने किया था। इस सभा में डा० शील ने जो कुछ कहा, उसमें उनके मूल अधिवेशन में दिये गये भाषण की बहुत सी बातें थीं। 'आनन्द बाजार' बँगला दैनिक के १४-३-३७ के अंक में छपे उनके भाषण का एक अंश इस प्रकार है—

"डा० ब्रजेन्द्रनाथ शील ने अपने भाषण में कहा कि रामकृष्ण के जीवन में धर्म के रस की उपलब्धि का जैसा परिचय मिलता है, वैसा वर्तमान युग के और किसी धर्म-साधक के जीवन में नहीं मिलता।

"अपनी निर्गुण साधना में वे भगवान् के गुणातीत एवं समस्त उपाधियों से विनिर्मुक्त स्वरूप की उपलब्धि करते थे। उपाधि की दृष्टि से वे जगन्माता काली तथा उनके विभिन्न रूपों के उपासक थे। वे एक में अनेक और अनेक में एक की उपासना करते थे। उनकी इन सब अनुभूतियों में कोई टकराहट नहीं थी। वे सब ओर से पूर्ण की ही अनुभूति करते थे। इस प्रकार रामकृष्ण ने अपनी साधना में निराकार और साकार को एक कर लिया था। वे मानते थे कि किसी भी आकार में किसी भी देवता की पूजा क्यों न की जाय, सब उस एक ही भगवान् की पूजा है। जड़ और चेतन में वे कोई भेद नहीं देखते थे। . . .

"भारतीय साधकों की यह एक विशिष्टता रही है कि उनमें से अनेक लौकिक ज्ञान में समृद्ध थे। संसार से ऊपर उठे हुए रहने के कारण वे लोग संसार-सागर में तैरते हुए विभिन्न जीवन-स्तरों की अपेक्षा संसार की कार्य-कारण-परम्परा का अधिक गहराई से अनुभव करने में समर्थ होते थे। रामकृष्ण की उक्तियों से प्राप्त होता है कि सांसारिक विषयों में भी उनका ज्ञान असीम था। लेकिन उनकी विशेषता यह थी कि वे लोक-कथाओं और कहानियों को मनुष्य के आध्यात्मिक ज्ञान तथा उसकी मुक्तिसाधना के लिए प्रयुक्त करते थे। रामकृष्ण कहते—'जतो मत ततो पथ'—जितने मत उतने पथ, अर्थात् प्रत्येक

धर्ममत की साधना की अपनी एक विशिष्ट धारा है। इसी सूत्र ने उनके हृदय में सर्वधर्मसमन्वय की भित्ति का कार्य किया है। उनके मतानुसार साधना ही मुख्य बात है, कोई धर्ममत या पन्थ नहीं। इसलिए उन्होंने प्रत्येक धर्ममत को अपनाकर उसकी साधना की। वे हिन्दू के निकट हिन्दू हैं, तो मुसलमान के निकट मुसलमान, ईसाई के निकट ईसाई हैं, तो विश्वप्रेमी के निकट विश्वप्रेमी। इस प्रकार उनके जीवन में मुक्ति सब दिशाओं से प्रसारित हुई थी। धर्म का जो आधुनिक रूप वर्तमान काल में कल्पित हुआ है, उसके साथ रामकृष्ण की इस धर्मसाधना की सम्पूर्ण संगति दिखलाई देगी। लेकिन इस आधुनिकता को केवल धर्म के भीतर ही जकड़े रखने से नहीं चलेगा, मानव-जीवन तथा सभ्यता के चारों ओर उसका प्रसार आवश्यक है। विभिन्न सभ्यताओं और संस्कृतियों ने आज मानव-समाज को कई खण्डों में विभाजित कर दिया है। इसको उस घेरे से मुक्ति देनी होगी। सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक, सभी क्षेत्रों में प्रेम और मैत्री को प्रतिष्ठित करना होगा। इस दृष्टि से देखने पर धर्मसम्मेलन को मानव-महासम्मेलन का ही सोपान कहा जा सकता है।

''परमहंसदेव को सही रूप से समझने के लिए धर्म को ध्यान-रस की दृष्टि से देखना होगा तथा विभिन्न मतों और पथों के समन्वय-सूत्र के रूप में हृदयंगम करना होगा। परमहंसदेव की यह ध्यान-रस-साधना हिन्दू साधकों के लिए एक विशिष्ट साधना है। भारत के इतिहास में इस साधना का विकास विभिन्न युगों में अद्भुत रूपों में परिलक्षित हुआ है। इन ध्यानपरायण साधकों के चित्त की प्रशान्ति ही साधना का लक्ष्य है—समष्टि में से होकर

उन्होंने आत्मा की उपलब्धि की है तथा अन्तर्ज्योति प्राप्त की है; वे अपने चित्त को सोपाधि से निरुपाधि के स्तर तक ले गये हैं। दूसरे शब्दों में, उन्होंने सीमा के माध्यम से असीम की उपलब्धि की है।"

धर्मसभा में अनेक विशिष्ट लोगों के सम्मिलित होने पर भी रवीन्द्रनाथ का योगदान और भाषण श्रोताओं की दृष्टि में सबसे अधिक गुरुत्वपूर्ण था। उसके मूल में उनके भाषण की तेजस्विता तो थी ही, लेकिन उससे भी अधिक बात थी कि स्वयं रवीन्द्रनाथ ही वहाँ थे। रवीन्द्रनाथ तब विश्व के मुख्य सांस्कृतिक नेताओं में तथा मानवतावादी आन्दोलन के सहायकों में अन्यतम थे और निश्चय ही इस युग के भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक व्यक्तित्व थे। उन्होंने जो योगदान किया, उसका एक विशेष मूल्य था। एक और भी बात थी। श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ की धारणा सर्वसामान्य शिक्षितों के सामने तब तक अस्पष्ट ही थी। यहाँ तक कि एक वर्ग के लोगों में ऐसी भी धारणा प्रचलित थी कि रवीन्द्रनाथ श्रीरामकृष्ण और विवेकानन्द के प्रति विशेष आग्रही या अनुरागी नहीं हैं। इसलिए इस समाचार ने कि रामकृष्ण शताब्दी समारोह के एक अधिवेशन में रवीन्द्रनाथ सभापति के रूप में सम्मिलित हो रहे हैं, लोगों में एक विशेष आग्रह की सृष्टि की थी।

धर्ममहासभा में रवीन्द्रनाथ का भाषण ही सबसे अधिक प्रशंसित हुआ। विभिन्न समाचार-पत्रों में उस पर सम्पादकीय भी लिखा गया। रवीन्द्रनाथ के भाषण के सम्बन्ध में सर फ्रान्सिस यंग हज़बैण्ड का श्रद्धापूर्ण मन्तव्य सर्वत्र समर्थन के साथ उल्लिखित हुआ।

'आनन्द बाजार' ने अपने ४-३-१९३७ के अंक में लिखा था---"धर्ममहासम्मेलन के सान्ध्य अधिवेशन के सभापति विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हुए सर फ्रान्सिस यंग हज़बैण्ड ने कहा कि वे रवीन्द्रनाथ को वर्तमान भारत का सर्वश्रेष्ठ मनीषी मानते हैं; और भले ही रवीन्द्रनाथ वृद्ध हो गये हैं, फिर भी उनकी अन्तरात्मा को चिर युवा देखकर वे विस्मित हुए हैं।" सर फ्रान्सिस ने यह भी कहा था, "आयोजकगण केवल इस एक भाषण के कारण ही धर्ममहासभा के आयोजन को सार्थक मान सकते हैं।"

इस दिन के अधिवेशन के सम्बन्ध में 'आनन्द बाजार' का प्रतिवेदन इस प्रकार था---

"बुधवार सन्ध्या छः बजे कालेज स्क्वेयर में स्थित यूनिवर्सिटी इन्स्टीट्यूट हॉल में विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सभापतित्व में विश्वधर्म-सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। इस दिन रवीन्द्रनाथ की वक्तृता सुनने के लिए इन्स्टीट्यूट में बहुत अधिक लोग इकट्ठे हुए थे। इन्स्टीट्यूट के के बाहर सड़क पर एक लाउडस्पीकर लगाया गया था भीड़ अधिक होने के कारण जो भीतर प्रवेश नहीं पा सके, उन्होंने बाहर ही खड़े होकर व्याख्यान सुना।

"श्रीमती सरोजिनी नायडू बुधवार को सुबह कलकत्ता पहुँची हैं। अन्यान्य उपस्थित लागों में वे तथा तथा पत्नी सहित कर्नल लिण्डबर्ग भी थे। एक मंगलगीत होने के बाद रोम विश्वविद्यालय के अध्यापक जार्जिओ देल बोच्छिओ एवं पेरिस विश्वविद्यालय के अध्यापक जिन प्राइलुस्की के सन्देश पढ़े गये। तत्पश्चात् श्रीयुत

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपना अभिभाषण पढ़ा। स्वामी परमानन्द, स्वामी निर्वेदानन्द, श्रीयुत हीरेन्द्रनाथ दत्त, अध्यापक सुरेशचन्द्र सेनगुप्त, सर फ्रान्सिस यंग हजबैण्ड, श्रीमती सरोजिनी नायडू आदि ने व्याख्यान दिये।"

'एडवान्स' पत्रिका ने अपने ४-३-१९३७ के अंक में लिखा था—"रवीन्द्रनाथ जिस समय अपने स्वर-धन से मण्डित सुललित कण्ठ से शान्ति और सौन्दर्य की वाणी उच्चारित कर रहे थे, तब विशाल जनसमूह पूरी तरह से निस्तब्ध था।"

रवीन्द्रनाथ ने अपने दीर्घ भाषण के शुरू शुरू में रहस्यमय आध्यात्मिक सत्य के अस्तित्व की बात कही थी। उसी के साथ उन्होंने वस्तुवाद को सीमाबद्ध कहकर चिह्नित भी किया था। यद्यपि उन्होंने कहा था कि "मैं केवल कवि हूँ, मैं मनुष्य को और सृष्टि को प्यार करता हूँ," फिर भी उन्होंने साथ ही यह भी कहा था, "लेकिन चूँकि प्रेम एक प्रकार की अन्तर्दृष्टि देता है, इसीलिए मैं मानव-समाज की गहराई के दबे स्वर को सुन पाता हूँ, उसके अन्तर के आवेग के स्पन्दन का अनुभव करता हूँ। मैं वह मनुष्य नहीं हूँ, जो अभागे कारागार में जन्म लेकर भी उसे कारागार के रूप में अनुभव न कर सके।" इसके बाद ही रवीन्द्रनाथ मुक्तिचेतना का प्रसंग ले आये थे। मनुष्य और जीव-जगत् सबमें सदा ही मुक्ति के लिए तीव्र व्याकुलता है। रवीन्द्रनाथ ने एक रहस्यमय जगत् की बात को स्वीकार किया था, जो शारीरिक माँग का दास नहीं है। वह जगत् क्षीण आलोक से युक्त है, फिर भी उसका आकर्षण दुर्निवार है। उस जगत् के साथ सम्पर्क निःस्वार्थ प्रेम के द्वारा होता है। बुद्ध के जीवन में उसका उदाहरण है—जीवमात्र के प्रति

उनकी मैत्री में। इसी के बाजू में रवीन्द्रनाथ ने जड़वाद को रखा था। जड़ का लक्षण उसके आकार की सीमा-बद्धता में है। इस सीमा के अन्तर्गत स्थान के आधिपत्य को लेकर ही सारा संघर्ष है। यह संघर्ष लौकिक अधिकार के ही समान धर्म सम्बन्धी अधिकार के विस्तार की चेष्टा में दिखाई देता है। धर्मध्वजी लोग अपने दल के सदस्यों की संख्या की अधिकता को लेकर दम्भ करते हैं। इसी उद्देश्य से वे धर्मान्तरण करना चाहते हैं। जिस धर्म का आश्रय लेकर मनुष्य अपनी आत्मा को मुक्त करने का विचार कर सकता है, वही धर्म मुक्ति का सबसे बड़ा शत्रु बनकर खड़ा हो गया है। रवीन्द्रनाथ ने बड़े कठोर शब्दों में धार्मिक साम्प्रदायिकता पर आघात करते हुए कहा--आन्तरिक नास्तिकतावाद ईश्वर के नाम पर जो कलंक नहीं लगा सकता, आध्यात्मिकता की छद्मवेशी हिंसक साम्प्रदायिकता आज वह कलंक लगा रही है। परजीवी अमरबेल की तरह यह साम्प्रदायिकता धर्म का जीवन-रस सोखकर उसे ऐसी अवस्था में ले जाती है कि वह समझ ही नहीं पाता कि इस बीच वह निर्जीव कंकाल बन गया है। रवीन्द्रनाथ ने उन साहसी मनुष्यों का आह्वान किया था, जो गतानुगतिकता की प्रस्तर-दीवारों से बाहर आकर सत्य की समग्र रूप से उपलब्धि करने में समर्थ होंगे। इसीलिए उन्होंने समग्र मानव-जाति के लिए एक धर्म या एक आदर्श की बात भी नहीं कही। उनके निकट कविता के समान धर्म भी कोई निर्दिष्ट मतवाद नहीं था, वह तो इस वैचित्र्यमय सृष्टि के बीच ईश्वर का आत्मप्रकाश था। मनुष्य का व्यक्तित्व अनन्त के निरवच्छिन्न, अकल्पनीय वैचित्र्य में प्रकाशित होगा। जब कोई धर्म अपने विशेष

मतवाद को समग्र मानवजाति के ऊपर थोपने की चेष्टा करता है, तब वह रवीन्द्रनाथ के निकट धर्मीय साम्राज्य-वाद है, धार्मिक फासिस्टवाद है।

श्रीरामकृष्ण को रवीन्द्रनाथ ने इसी भावना की पटभूमि में स्थापित किया था। उनके बारे में इस अवसर पर एक छोटी सी किन्तु अनिन्द्य कविता के द्वारा यह कहते हुए उन्होंने श्रद्धा ज्ञापित की थी कि रामकृष्ण के जीवन में धर्म-साधना के अनेकों मत और पथ सामंजस्य-पूर्वक मिलित हुए थे। इस भाषण में उन्होंने कहा था—— "रामकृष्ण सरीखे महात्माओं ने सत्य की सामग्रिक रूप से उपलब्धि की है। समग्र के मध्य ऐक्य को, परम सत्य की विविध अभिव्यक्तियों के तात्पर्य को अनुभव करने की शक्ति उनमें है। पर अधिकांश भक्त-विश्वासीगण मत और पथ के भेद को समन्वित करने में असमर्थ रह जाते हैं। उन सबकी गतिहीन संकुचित कल्पना धर्म के अनन्त रूपों के दर्शन से मुक्त हो जाने की बजाय मतान्धता में बँध जाती है——धर्मान्ध तथा पुरोहितों का दल अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए उन्हें मानो निचोड़कर अपने काम में लगाता रहता है। जो पथप्रदर्शक थे, उन्होंने इस परिणाम की स्वप्न में भी कल्पना की थी या नहीं इसमें सन्देह है।"

अपने भाषण की भूमिका में रवीन्द्रनाथ ने कहा था—— "मैं जब इस विशिष्ट जनमण्डली के समक्ष भाषण देने के लिए आमंत्रित हुआ था, तो स्वभावत: अनिच्छुक था, क्योंकि धर्म से जो चालू अर्थ लिया जाता है उसके अनुसार शायद ही मैं धार्मिक कहा जाऊँ। काल और कुलीनता से युक्त धर्ममतों में ईश्वर के विशेष भाव के सम्बन्ध में जो धारणाएँ बनी हुई हैं, उनमें किसी एक पर मेरा अधिकार

है, ऐसा दावा मैं नहीं कर सकता। फिर भी मैंने जो इस मर्यादापूर्ण कर्तव्य का ग्रहण किया, उसका एकमात्र कारण यह है कि मैं उन महापुरुष के प्रति श्रद्धाशील हूँ, जिनकी शताब्दी के उपलक्ष में यह धर्ममहासभा आयोजित की गयी है। परमहंसदेव की मैं भक्ति करता हूँ, क्योंकि उन्होंने धार्मिक अराजकता के मरु-युग में अपनी उपलब्धि के द्वारा हमारी आध्यात्मिक परम्परा की सत्यता प्रमाणित की है; उनकी विशाल सत्ता आपस में संघर्ष करनेवाली साधना-प्रणालियों को अपने भीतर मिलित करने में समर्थ हुई है। उनकी मैं भक्ति करता हूँ, क्योंकि उनकी आत्मा की सरलता ने चिरकाल के लिए पण्डितों और पुरोहितों के आडम्बर और विद्यागर्व को खण्डित कर दिया है।"

धर्ममहासभा के चालू रहते ही सिस्टर सरस्वती द्वारा परिचालित रामकृष्ण मेडिकल एजुकेशन सोसायटी के प्रति रवीन्द्रनाथ का शुभेच्छा सन्देश प्रकाशित हुआ। उन्होंने कहा था--"श्रीरामकृष्ण की प्रेरणा से जो सारे निःस्वार्थ सेवा-कार्य निःशब्द रूप से सम्पादित हो रहे हैं, मेरे ख्याल से वे ही उनकी स्मृति के प्रति महत्तम श्रद्धा की अभिव्यक्ति हैं।"

॥ ३ ॥

१९३६ से १९८६---इन पचास वर्षों में भारत एवं विश्व के इतिहास में एक प्रधान घटना घटी---१९४७ में भारत द्वारा स्वाधीनता की प्राप्ति। विशाल विश्व के सन्दर्भ में शक्ति के सन्तुलन में तथा भारत के जनजीवन में इस घटना ने सुदूरप्रसारी प्रभाव का विस्तार किया।

स्वाधीनता-प्राप्ति के उपरान्त राष्ट्र के प्रयोजन से रामकृष्ण मिशन ने शिक्षा के क्षेत्र में विशेष रूप से मनो-निवेश किया। स्कूल, कालेज और अन्य प्रकार की शिक्षा

के क्षेत्र में देशीय प्रतिष्ठानों में रामकृष्ण मिशन की भूमिका सबसे आगे आयी। समाज-सेवा और लोक-स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी वह आगे आया। सभा-समिति, पुस्तक-प्रकाशन आदि क्षेत्रों में कर्म का विशेष प्रसार हुआ। रामकृष्ण मिशन की शाखाएँ संख्या में बढ़ती रहीं। हर शाखा में गतिविधियाँ भी बढ़ने लगीं। रामकृष्ण-भाव का आश्रय ले अगणित प्रतिष्ठान देश में सर्वत्र गठित होने लगे। ऐतिहासिक और समाजविज्ञानी लोग 'रामकृष्ण आन्दोलन' शब्द का अपने ग्रन्थ आदि में व्यवहार करने लगे। सन् १९१४ ई. में, टेगर्ट रिपोर्ट के अनुसार, अविभक्त भारत में जहाँ रामकृष्ण मठ और मिशन की शाखाओं की संख्या (बेलुड़ मठ को मिलाकर) ११ थी, वहीं रामकृष्ण मठ एवं मिशन की १९८३-८४ वर्ष की रिपोर्ट के अनुसार शाखाओं की संख्या बढ़कर भारत में ९२, बँगलादेश में १० तथा भारत के बाहर अन्यान्य स्थानों में २१ हो गयी। १९८० में रामकृष्ण संघ का द्वितीय महासम्मेलन हो गया है। उसमें देश-विदेश से आये बहुत से प्रतिनिधियों ने योगदान किया था। रामकृष्ण-आन्दोलन से जुड़े हुए सैकड़ों 'प्राइवेट' आश्रमों के प्रतिनिधियों ने भी योगदान किया था। उस सम्मेलन में लिये गये प्रस्ताव के अनुसार कुछ वर्षों के अन्दर ग्रामीण अर्थनीतिक परिकल्पना तथा युवा-संगठन के क्षेत्र में जिम्मेदारी के साथ कार्य प्रारम्भ कर दिया गया।

निस्सन्देह रामकृष्ण-आन्दोलन का विस्तार हुआ है, पर साथ ही भारत तथा दुनिया में अन्यत्र स्थूल जड़वाद, साम्प्रदायिकता, परधर्म-असहिष्णुता इत्यादि के रूप में इस आन्दोलन के विरोधी भावों का भी प्रसार हो

रहा है। हिंसा एवं अलगाववाद का रूप चारों तरफ प्रकट है। रवीन्द्रनाथ ने जिस पर कटाक्ष किया था, वह थी धर्मानुयायियों की संख्या को बढ़ाने की भयावह चेष्टा। एक ओर धर्मान्तरण की यह कुचेष्टा चली हुई है (भारतवर्ष में जिस धर्मान्तरण के गाँधीजी कठोरतम समालोचक थे) और दूसरी ओर अभी भी चल रहा है धर्म के कुसंस्कारों का आश्रय लेकर एक ही धर्म के एक अंश का अपने दूसरे अंश पर अत्याचार। बाहर की दुनिया में देखने को मिलता है—विभक्त विश्व के गगन में विभिन्न मतावलम्बियों के बृहत् शक्तिसम्पन्न मारणास्त्रों का चक्कर। रक्षा का उपाय एकमात्र रामकृष्ण के आदर्श में है, जो है—जितने मत उतने पथ। इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्य मनुष्य के अन्याययुक्त पथ का भी समर्थन किया जाए। किसी व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति की संगत अभिव्यक्ति की स्वाधीनता को स्वीकार करना तब तक सम्भव नहीं होता, जब तक उसकी नींव हृदय के विस्तार पर आधारित नहीं होती।

रामकृष्ण शताब्दी के एक अधिवेशन में सरोजिनी नायडू ने सभानेतृत्व किया था। सरोजिनी अपनी अन्य सभी गतिविधियों के बावजूद मूलतः कवि थीं। उनके कविकण्ठ ने सुन्दर प्रतीकमय वक्तव्य के द्वारा उस सभा के मूल सत्य का स्पर्श करना चाहा था। धर्ममहासभा में उनका सन्देश क्या होगा—इस प्रसंग में उन्होंने एक पूर्व की घटना का उल्लेख किया था। कलकत्ता विश्वविद्यालय में उस समय वे 'कमला व्याख्यान-माला' दे रही थीं। भाषण के अन्तिम दिन प्रातः जगदीश-चन्द्र बसु के साथ उनके उद्यान में टहल रही थीं। जग-

दीशचन्द्र ने प्रश्न किया था, "भाषण में आज क्या कहना है, निश्चय किया है ?" सरोजिनी ने कहा, "नहीं, निश्चय नहीं किया है ।" वे दोनों बगीचे के पेड़-पौधे, पक्षी, मूर्ति इत्यादि के बीच से टहलते हुए पत्थर से बने एक मन्दिर के सामने आकर रुक गये थे। पर मन्दिर सूना था। जगदीशचन्द्र ने पूछा, "कवयित्री ! तुम्हें क्या अपना सन्देश मिल गया ?" सरोजिनी बोलीं, "हाँ, मिल गया ।" कौनसा सन्देश उन्हें मिला था, इसी का उल्लेख उन्होंने धर्ममहासभा में किया था--"यह रहा वह सूना मन्दिर । मूर्ति नहीं है । हर पुजारी इस मन्दिर में अपनी सत्ता द्वारा सृष्ट ईश्वर की मूर्ति स्थापित कर सकता है। पृथ्वी के सभी महान् साधु-सन्तों तथा ईश्वर-आदिष्ट पुरुषों का यही सन्देश है। यही श्रीरामकृष्ण का सन्देश है । उनके निकट मन्दिर सर्वदा ही शून्य है, क्योंकि वह हरदम देवता को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत है। क्या रूप है उस देवता का ?--उन्होंने स्वयं को मुसलमान की सत्ता में स्थापित किया है अथवा ईसाई की, जरथ्रु-स्ट्रीय की सत्ता में या सिक्ख की अथवा अन्य किसी धर्मा-वलम्बी की--इससे क्या आता-जाता है ? रामकृष्ण ने कहा है--यह है मानव का मन्दिर, मानव का प्रयोजन है ईश्वर से । उसे कहाँ पाऊँ? मैं क्या अपनी व्यक्तिगत सीमाबद्ध चेतना के द्वारा उसकी सृष्टि करूँ? या फिर उसके वैचित्र्यमय अनन्त स्वरूप में ही उसकी आकांक्षा करूँ ?"

सरोजिनी ने विशेषरूप से कहना चाहा था--"राम-कृष्ण ने हमें यही शिक्षा दी है कि मन्दिर इसलिए सूना पड़ा हुआ है कि केवल प्रेम के द्वारा ही ईश्वर की प्रतिमा

निर्मित हो सकती है। प्रेम कभी मनुष्य को बाँधता नहीं, वह तो मनुष्य को उस समग्र मानव-समाज के साथ संयुक्त कर देता है, जो ईश्वर की उपासना कई रूपों में, कई नामों से करता है।"

एक पाश्चात्य लेखक ने परमहंस के विशाल डैने का उल्लख किया है। उस डैने की छाया में है आर्त मनुष्यों की विश्रान्ति। भारतीय कवयित्री सरोजिनी नायडू ने रामकृष्ण के उस शून्य मन्दिर की बात कही है, जिसके भीतर से निरन्तर चेतना का आह्वान प्रसारित हो रहा है--कौन कहाँ हो, आओ, आओ; अपने सपने की, कल्पना की, प्रेरणा की, प्रेम की प्रतिमा लेकर यहाँ आओ!

श्रीरामकृष्ण की सार्ध शताब्दी में वह आह्वान हमारे लिए है ही।

○

उस महान् शिक्षक (रामकृष्ण) की प्रेरणा से सामाजिक करुणा का जबर्दस्त पुनर्जागरण हुआ है।... उन्होंने हिन्दुत्व के गिरे हुए स्तर को, केवल शब्दों में नहीं अपितु कार्यों में भी, धूल से ऊपर उठने में सहायता दी है।

—डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

रामकृष्ण संघ

स्वामी गम्भीरानन्द

(श्रीमत् स्वामी गम्भीरानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उनके द्वारा प्रणीत महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थों में History of Ramakrishna Math and Rama-krishna Mission अन्यतम है, जिसके प्रथम दो अध्यायों का अनुवाद प्रस्तुत लेख के रूप में हुआ है। जैसा कि हम कह चुके हैं, यह १९८६ का वर्ष रामकृष्ण संघ के लिए शताब्दी-वर्ष है, क्योंकि आज से १०० वर्ष पूर्व श्रीरामकृष्णदेव की इच्छा और प्रेरणा से, स्वामी विवेकानन्द के नेतृत्व में, उसका गठन हुआ था। अनुवादक हैं श्री जी. एस. मिश्र, जो सम्प्रति शासकीय आदर्श उच्चतर माध्यमिक शाला, नारायणपुर, जिला-बस्तर, के प्राचार्य हैं।—स०)

अनुप्रेरणा

(१८३६-१८८५)

नव युग के ईश्वरोन्मत्त मसीहा श्रीरामकृष्ण १८६७ तक अपनी कठिन आध्यात्मिक साधना के चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुके थे। कलकत्ता से ८ किलोमीटर की दूरी पर हुगली नदी (जिसे गंगा भी कहते हैं) पर अवस्थित दक्षिणेश्वर में वे इस कार्य में १२ वर्षों तक तल्लीन रहे एवं कतिपय आध्यात्मिक सत्यों की अनुभूति की; यथा—मानव-जीवन का मुख्य लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति है, प्रत्येक व्यक्ति को स्वप्रयास से ईश्वरानुभूति का अधिकार है, सभी धर्म सच्चे हैं, प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही ढंग से ईश्वर की ओर जाना पड़ता है, नर एवं नारी मूलतः दिव्य हैं, मानवीय सम्बन्धों की उत्कृष्टतम अभिव्यक्ति उपासना के रूप में की जानेवाली सेवा के द्वारा होती

है, नैतिक पतन और पापों के लिए बिसूरते रहने की अपेक्षा उन्नति के लिए विधेयात्मक प्रयत्न करना श्रेयस्कर है, तथा सभी सामाजिक परिवर्तन अध्यात्म पर आधारित होने चाहिए। विश्वोत्थान के लिए यह अद्वितीय सन्देश उनके द्वारा मुखरित हुआ, तथा उसकी अन्तर्निहित शक्ति इतनी थी कि दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर के परिसर में अथवा एक छोटे और पिछड़े गाँव की चहारदीवारी के भीतर वह सिमटकर न रह सका। अपने आध्यात्मिक संघर्षों से सफल होकर निकलने के शीघ्र बाद ही दैवी विधान ने श्रीरामकृष्ण को प्रेरित किया कि वे संवादों तथा व्यक्तिगत सम्पर्क के माध्यम से अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्ति दें। परन्तु जमीन की अच्छी तैयारी के बिना ही क्या बीज का अंकुरण हो सकता है? योग्य प्रतिग्राहक कहाँ थे? ऐसे समय में एक दैवी दर्शन ने उनके आगमन के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्णदेव को आश्वस्त कर दिया। फिर भी उनके हृदय की उत्कण्ठा विलम्ब को सहन नहीं कर सकी, क्योंकि सांसारिक लोगों से वार्ता करने मे उन्हें अरुचि हो गयी थी और वे सच्चे आध्यात्मिक साधकों की संगति के लिए तड़प रहे थे। अतएव "जब सायंकाल मन्दिर घण्टों एवं शंख-ध्वनियों से गूँज उठता था, तब वे उद्यानभवन की कोठी की छत पर चढ़ जाते और हृदय की वेदना से आहत होकर तारस्वर में चिल्ला उठते--'मेरे बच्चो! आओ! ओह! तुम कहाँ हो? मैं तुम्हारे बिना जीवित नहीं रह सकता!' "

उस प्रचण्ड आह्वान ने प्रथमतः १८७५ ई० में केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्राह्मसमाजियों को आकृष्ट

किया। केशवचन्द्र के अतिरिक्त दूसरे प्रमुख व्यक्ति थे—विजयकृष्ण गोस्वामी, प्रतापचन्द्र मजूमदार और त्रैलोक्यनाथ सान्याल। ये लोग दक्षिणेश्वर के सन्त की प्रशंसा करते थे। उन्होंने अपने लेखों के माध्यम से उनके कुछ आदर्शों का प्रचार किया; उनके चुटकुलों, रूपकों और अभिव्यक्ति के तरीकों द्वारा अपने स्वयं के प्रवचनों को अलंकृत किया तथा उनके आध्यात्मिक भावों, दर्शनों और रुचि के अनुसार समय-समय पर समाज के जीवन को पुनर्गठित किया। परन्तु वे पूर्णतया उनके साथ नहीं चल सकते थे तथा खुलकर उनके नेतृत्व को स्वीकार भी नहीं सकते थे, क्योंकि वे पाश्चात्य विचारों से अभिभूत थे तथा ईसाई एकेश्वरवाद से आकृष्ट थे। श्रीरामकृष्ण के हिन्दू-विश्वास की मुँहफट सादगी उन लोगों के सांस्कृतिक बोध एवं धार्मिक दृष्टिकोण को सन्तुष्ट नहीं कर सकती थी। फिर भी श्रीरामकृष्ण के प्रति केशवचन्द्र की भक्ति दूसरी दिशा में फलीभूत हुई। उसने मध्यमवर्गीय तथा बुद्धिवादी जिज्ञासुओं के ध्यान को आकृष्ट किया, क्योंकि केशव-चन्द्र न केवल ब्राह्म-नेता थे अपितु वे एक प्रकार से राष्ट्रीय हीरो थे, जिन्होंने संस्कृति और धर्म के क्षेत्र में भारत की गिरी प्रतिष्ठा को फिर से ऊपर उठाया तथा पाश्चात्य चुनौतियों का उन्हीं की अपनी जमीन पर सामना किया। कारण, वह एक ऐसा युग था, जब भारत की प्राचीन सभ्यता विज्ञान और ईसाइयत के आघातों के नीचे पिस रही थी। आत्मरक्षा में भारत ने बंगाल में ब्राह्मसमाज के संस्थापक राममोहन राय तथा पंजाब में आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द

सरस्वती के माध्यम से प्रतिक्रिया व्यक्त की, भले ही दोनों समाजों में से कोई भी भारतीय संस्कृति को समूचे रूप में अंगीकार नहीं करता था । ब्राह्मों ने अतीत से चयन कर वर्तमान से समझौता किया था तो आर्य-समाजियों ने स्वयं की व्याख्या के आधार पर, उप-निषदों तथा हिन्दुत्व के परवर्ती समृद्ध काल को एकदम अनदेखा करते हुए, यज्ञों के वैदिक काल को पुनरु-ज्जीवित करना चाहा था। अपने सुधारवादी उत्साह के बावजूद दोनों संगठनों ने पाश्चात्य सभ्यता के ज्वार को अवरुद्ध तो किया ही तथा उस समय के लिए भारत को बचा लिया। उचित ही था कि केशवचन्द्र इन सबके लिए तथा अपनी वक्तृत्व-शक्ति, निपुण अभिव्यक्ति-कला एवं वैयक्तिक चरित्र के लिए सम्मानित किये गये। इसलिए भले ही श्रीरामकृष्ण जिस आदर्श का प्रतिनिधित्व करते थे, उसकी केशव के द्वारा स्वीकृति आंशिक रही हो, पर वह स्वीकृति उस आदर्श के लिए अर्थपूर्ण सिद्ध हुई। केशव ने जिस ढंग से श्रीरामकृष्ण को लोगों के सामने रखा, उससे उनके पास धीरे-धीरे वे ही लोग आये, जिनके लिए श्रीरामकृष्ण की पुकार थी।

सर्वप्रथम १८७९ के अन्त में रामचन्द्र दत्त एवं उनके मौसेरे भाई मनोमोहन मित्र आये। आगामी वर्षारम्भ में सुरेन्द्रनाथ मित्र ने उनका अनुगमन किया। शनैः शनैः श्रीरामकृष्ण के चारों ओर दृढ़प्रतिज्ञ अनु-यायियों का एक दल इकट्ठा हो गया, जिन्होंने खुले रूप में उन्हें मसीहा घोषित किया। वे उनके सन्देश को हर तरह से प्रचारित करने के लिए उद्यत हो गये। परन्तु उन्हें द्विविध बाधाओं के बीच कार्य करना पड़ता

था—पहली बाधा थी उनकी सांसारिक जिम्मेदारियाँ तथा दूसरी थी उनके आध्यात्मिक पूर्वग्रह। इनके कारण न तो वे श्रीरामकृष्ण के आदर्शों को तर्कसंगत रूप से पूरी तरह समझ सकते थे, न ही उन्हें अपने जीवन और समाज में पूर्णतः उतार सकते थे। रामकृष्ण के अवतारी होने के विश्वास में वे लोग केशवचन्द्र से बहुत आगे चले गये; क्योंकि उन लोगों ने श्रीरामकृष्ण के चरित्र की साधुता तथा उनके सन्देश की अपूर्वता को केवल मान्यता ही न दी—जिनसे केशव भी सहमत होते—अपितु उनके दैवी नेतृत्व को भी निर्विवाद रूप से अंगीकार कर लिया। अब उन्हें हिन्दुत्व के सम्बन्ध में सफाई देने की जरूरत नहीं थी, क्योंकि वह श्रीरामकृष्ण के व्यक्तित्व के प्रकाश में पुनः रक्षित हो भासमान हो उठा था। इन भक्तों की संगति में श्रीरामकृष्णदेव ने भी प्रसन्नता का अनुभव किया, यद्यपि उनका मन असन्तुष्ट ही बना रहा, क्योंकि वे अब भी 'यंग बेंगाल' (युवा बंगाल) के हृदय को जीतना चाहते थे, केवल जिसकी नींव पर ही मानवता के आध्यात्मिक नवोत्थान के लिए उनकी नयी इमारत खड़ी की जा सकती थी। वे कुछ ऐसे ताजा, निष्ठावान् और प्रगतिशील मनवाले युवकों की खोज में थे, जो उनमें केवल शानदार अतीत की उत्कृष्टता ही न देखें, वरन् प्रभावपूर्ण भविष्य की झलक भी देख लें। युवा बंगाल ने भी उत्साहपूर्वक इस खोज का उत्तर दिया। केशव की मान्यता तथा रामचन्द्र एवं अन्य लोगों की हार्दिक स्वीकृति ने दूसरों को शीघ्र आकर्षित किया और वे जल्दी-जल्दी एक-एक करके श्रीरामकृष्ण के चरणों में एकत्रित होने

लगे। १८८१ के अन्त में नरेन्द्रनाथ दत्त आये, राखाल-चन्द्र घोष १८८१ के मध्य में, १८८१-८२ के बीच जोगीन्द्रनाथ चौधुरी, बाबूराम घोष और नित्यनिरंजन घोष, १८८०-८१ में तारकनाथ घोषाल, अक्तूबर १८८३ में शरत्चन्द्र चक्रवर्ती और उनके चचेरे भाई शशिभूषण चक्रवर्ती, १८८४ में कालीप्रसाद चन्द्र, सम्भवतः १८८० में रखतूराम या लाटू, १८८४ में हरिनाथ चट्टोपाध्याय, गंगाधर गंगोपाध्याय एवं शारदाप्रसन्न मित्र, १८८४ के मध्य में सुबोधचन्द्र घोष, जिन्हें 'खोका' के नाम से अधिक जाना जाता था, तथा १८८३ के अन्त में हरि-प्रसन्न चट्टोपाध्याय आये। इनमें अधिकांश नवयुवक अविवाहित थे तथा उस समय कलकत्ता के विद्यालयों और महाविद्यालयों में अध्ययन कर रहे थे। बहुतेरे दूसरे भी, जो आयु में कुछ बड़े थे तथा गृहस्थ-धर्म में प्रविष्ट हो चुके थे, इस अवधि में दक्षिणेश्वर आये। इनमें उड़ीसा के जमींदार बलराम बोस, महेन्द्रनाथ गुप्त जो बाद में 'मास्टर महाशय' या 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' के मूल बँगला लेखक 'म' के रूप में विख्यात हुए, बंगाल के ख्यातिलब्ध अभिनेता-नाटककार गिरीश-चन्द्र घोष, गीतों के प्रणेता देवेन्द्रनाथ मजूमदार एवं कवि अक्षयकुमार सेन का नाम उल्लेखनीय है। इस समूह में एक विधुर, गोपालचन्द्र घोष उर्फ बूढ़े गोपाल, भी शामिल थे, जिन्होंने कालान्तर में संसार का परि-त्याग किया था और युवा भक्तों के साथ आकर रहने लगे थे। इस इतिहास के उद्देश्य को पूर्ण करने की दृष्टि से हमारा अधिक सम्बन्ध इन तरुण साधकों के साथ रहेगा; परन्तु उनकी उपलब्धियों और उनके बारे

में बताने से पूर्व हमें उनकी अनुप्रेरणा के उत्स से परिचित होना पड़ेगा। कारण यह है कि प्रत्येक बार, हर मोड़ में, रामकृष्ण मठ एवं मिशन के ये नेतागण श्रीरामकृष्ण को उनके नामवाले इस संघ के सच्चे शिल्पी के रूप में स्वीकारते हैं, और हम उसी के इतिहास का पता लगाने जा रहे हैं। नरेन्द्र, जो कालान्तर में स्वामी विवेकानन्द बने, ने २७ जनवरी १९०० को कैलिफोर्निया के शेक्सपियर क्लब, पैसाडेना में कहा था, "जिन विचारों का मैं उपदेश दे रहा हूँ, वे केवल उन्हीं (रामकृष्णदेव) के विचारों को प्रतिध्वनित करते हैं। मेरे अपने कोई विचार नहीं हैं, मैं जो कुछ अपना कहता हूँ सब झूठ है; परन्तु मेरे द्वारा उच्चारित प्रत्येक शब्द जो सत्य और सुन्दर है, उन्हीं की आवाज को प्रतिध्वनित करने का प्रयास मात्र है।" १९१० में भारत के वाइसराय श्री मिण्टो की धर्मपत्नी ने जब बेलुड़ मठ को भेंट देते हुए कहा था कि रामकृष्ण मठ स्वामी विवेकानन्द की सृष्टि थी, तब स्वामी शिवानन्द—जो पूर्व में तारकनाथ घोषाल थे और जिनसे हम कुछ पहले मिल चुके हैं तथा जो तब मठ के ट्रस्टी थे—ने उनके कथन को तुरत सुधारते हुए कहा, "हमने इस संघ को जन्म नहीं दिया, बल्कि वे तो श्रीरामकृष्ण थे, जो अपनी रुग्णावस्था में इसे जन्म देकर गये। उस समय उन्होंने स्वामीजी (विवेकानन्दजी) तथा अन्य लोगों को निर्देशित किया था कि किस प्रकार इस संघ को संगठित तथा परिचालित किया जाएगा।"

जिस एक बात ने प्रारम्भ से ही भक्तों को आश्चर्याभिभूत किया तथा उनके हृदय में श्रद्धा स्फुरित की,

वह थी श्रीरामकृष्ण के अधरों से नि:सृत प्रत्येक शब्द के पीछे उनकी निष्ठा और भक्ति। ऐसा होते हुए भी उनकी भाषा अत्यन्त सरल थी, दृष्टान्त तथा चुटकुले एकदम घरेलू थे। उन्होंने ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई बात नहीं की तथा त्याग उनका वैशिष्ट्य था। उन्होंने कोई औपचारिक शिक्षा नहीं पायी थी, फिर भी वे उस युग के बुद्धिजीवियों को मथित करनेवाली हर आध्यात्मिक समस्या का पूर्णत: सन्तोषजनक समाधान प्रस्तुत कर सकते थे। वे तो उत्तर में प्रतिप्रश्न कर देते, जिससे वैज्ञानिक मस्तिष्क भी हतप्रभ हो जाता था। प्रश्नकर्ताओं को यह बताने के लिए किसी दक्ष व्यक्ति की आवश्यकता नहीं थी कि श्रीरामकृष्ण के उन अर्थगर्भ और दीप्त शब्दों के पीछे एक सन्त के जीवन के उस सर्वोत्तम अंश का आधार था, जो नैतिक अनुशासन, कठोर और अविराम सत्यान्वेषण तथा अध्यात्म की गगनचुम्बी ऊँचाइयों पर विजय पाने में बीता था। श्रीरामकृष्ण के शब्द जीवन्त थे, क्योंकि उन्हें वास्तव में जिया गया था। जब तक जीवन कथन के अनुरूप नहीं होगा, कोई भी व्यक्ति सन्त की मान्यता को प्राप्त नहीं कर सकता। फिर, यह केवल उनके साधुत्व की महिमा नहीं थी कि वे अधिकारपूर्ण ढंग से बोला करते थे, परन्तु यह बात भी थी कि वे जगन्माता की सही अर्थों में सन्तान थे। उन्होंने अपने व्यक्तित्व को पूरी तरह से जगन्माता में निमज्जित कर दिया था, जिसके फलस्वरूप वे साधारण अर्थ में 'मैं' का उच्चारण भी नहीं कर सकते थे। वास्तव में उनके माध्यम से जगन्माता ही बोला करती थीं। उनके शिष्यों एवं

भक्तों ने उन्हें इसी रूप में पाया। परन्तु पूर्व में वे क्या थे? उसकी कहानी यहाँ वर्णित है।

१८ फरवरी १८३६ के दिवसारम्भ के तनिक पूर्व गदाधर चट्टोपाध्याय, जैसा कि श्रीरामकृष्ण बचपन में जाने जाते थे, का जन्म बंगाल के हुगली जिले के कामारपुकुर नामक गाँव में एक निर्धन किन्तु निष्ठावान् ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। उनके पिता क्षुदिराम एक बार गया गये हुए थे। वहाँ उन्होंने स्वप्न देखा कि भगवान् विष्णु उनसे कह रहे हैं कि वे स्वयं उनके पुत्र के रूप में पैदा होंगे। यह बात स्वयं श्रीरामकृष्ण ने ही बतायी है। उनकी माता चन्द्रामणि को भी इसी प्रकार का एक अनुभव हुआ था, जिसने शिशु की दैवी उत्पत्ति की पुष्टि की थी। गदाधर में एक विलक्षण आकर्षण था, जिसने उन्हें समूचे गाँव का प्यारा बना दिया। वे विलक्षण प्रतिभा तथा स्मृति के धनी थे। अपने बड़ों से उन्होंने अनेक स्तुति-स्तव सीखे तथा जनजीवन की पौराणिक परम्पराओं में दक्षता प्राप्त कर ली। खेल-अभिनय में वे अत्यन्त निपुण थे, फिर बड़े चंचल भी थे। इस चंचलता पर नियंत्रण पाने के लिए उनके पिता ने उन्हें गाँव के विद्यालय में पढ़ने भेजा। वहाँ उन्होंने कुछ प्रगति तो की, परन्तु गणित उनके लिए अरुचिकर था। उनके जीवन में हिसाब को स्थान नहीं मिलना था। ज्यों-ज्यों वे बड़े होते गये, हिन्दू देवी-देवताओं का विचार उन्हें गहरे ध्यान में निमज्जित कर देता—इतना गहरा कि उन्हें भाव-समाधियाँ लगने लगीं। वे स्वयं मूर्तियाँ बनाते तथा उनकी पूजा में रस लेते। अपने संगी-साथियों के साथ

पौराणिक घटनाओं का अभिनय करते और देवदुर्लभ मधुर कण्ठ से देवी-देवताओं की प्रशंसा में गीत गाया करते। गदाधर ऐसे सुख के दिन बिता ही रहे थे कि उनके पिता का १८४३ ई० में निधन हो गया। उनके लिए यह बड़ा भारी सदमा था तथा उसने उनके मन को और भी अन्तर्मुखी बना दिया। परिवार का कनिष्ठ-तम सदस्य होने के नाते उन्हें अपनी मर्जी से बढ़ने में पर्याप्त छूट मिली थी, जिसने शीघ्र ही सभी के लिए समस्याएँ खड़ी कर दीं।

९ वर्ष की अवस्था में उनका उपनयन-संस्कार हुआ। संस्कार के अन्त में अपेक्षित था कि वे प्रथम भिक्षा किसी ब्राह्मण-परिवार से प्राप्त करते, परन्तु बालक धनी लुहारिन के अलावा अन्य किसी से भिक्षा लेने के लिए तैयार नहीं हुआ। धनी ने बचपन में उन्हें पाला-पोसा था और फलतः वे उसे माता के समान ही मानते थे। उन्होंने बहुत पूर्व में ही धनी के उस अनुरोध को स्वीकार कर लिया था, जिसमें धनी ने उनसे प्रथम भिक्षा उससे लेने की बात कही थी। और अब गदाधर उसे दिये गये अपने वचन को तोड़ने के लिए तैयार न थे। अन्ततोगत्वा परिवार को बालक की इच्छा के समक्ष झुकना पड़ा।

बालक की एकान्त में ध्यान की प्रवृत्ति को देख तथा समूह-गायन एवं मंचीय प्रदर्शनों में उसे समय जाया करते देख उसके अभिभावक परेशान थे। आम्र-कुंजों में किये जानेवाले इन कार्यों से उसके अध्ययन में व्यवधान उपस्थित हो रहा था। उसके अग्रज राम-कुमार ने कलकत्ता में एक संस्कृत पाठशाला खोली

थी। उन्होंने गदाधर से कहा कि वह चलकर उसमें प्रवेश ले ले तथा पुरोहिती में उनकी सहायता करके परिवार की आर्थिक मदद भी करे। गदाधर कलकत्ता चले गये और कुछ पड़ोसियों के यहाँ उन्होंने पूजा का कार्य आरम्भ कर दिया—केवल इसलिए कि इस कार्य से उन्हें ईश्वर के समीप रहने का अवसर मिलता था। अध्ययन के लिए कहे जाने पर उन्होंने उत्तर दिया, "भैया, मैं पेट भरने की विद्या सीखकर क्या करूँगा? मैं तो वह ज्ञान पाना चाहूँगा, जो मेरे हृदय को आलोक से भर देगा और मुझे सदा के लिए सन्तुष्ट कर देगा।"

इस समय श्रीरामकृष्ण के अद्वितीय खेल के लिए मंच अकल्पनीय रूप से तैयार हो रहा था। कलकत्ता की एक धर्मप्राण विधवा, रानी रासमणि, ने एक स्वप्न के निर्देश के अनुरूप कलकत्त से ८ किलोमीटर उत्तर की ओर दक्षिणेश्वर ग्राम में भवतारिणी काली का एक भव्य मन्दिर निर्मित कराया। इसमें भगवान् शिव तथा राधाकान्त कृष्ण के लिए भी मन्दिर बनवाये गये। इन मन्दिरों को ३१ मई १८५५ को उत्सर्गित किया गया तथा रामकुमार कालीमन्दिर के पुजारी के रूप में वहाँ आये। उनकी इच्छा थी कि श्रीरामकृष्ण भी वहाँ पर कुछ कार्य करें, परन्तु उन्होंने दृढ़तापूर्वक मना कर दिया, क्योंकि अपने परिवार की परम्परा को देखते हुए श्रीरामकृष्ण को लगा कि किसी शूद्र द्वारा अर्पित मन्दिर से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रखना अनुचित है। पर उन्होंने शीघ्र ही इस भावना पर विजय पा ली और अपने अग्रज के साथ मन्दिर-परिसर में रहने लगे। कालान्तर में मन्दिर के अभिभावकों

द्वारा उन पर जोर डाला गया कि वे वहाँ अपनी सेवाए देना भी स्वीकार कर लें। जो हो, आर्थिक लाभ की दृष्टि ने तो नहीं किन्तु उस स्थान के शान्त और गरिमामय वातावरण ने उन्हें निर्णय लेने में सहायता प्रदान की। अब उनकी साधनाओं के लिए बढ़िया अवसर मिल गया और उन्होंने तत्परता से उसका सदुपयोग किया। रामकुमार ने अपने अनुज को इस लाभप्रद कार्य में लगा देख राहत की साँस ली, पर वे अधिक दिन जीवित न रहे; इसके एक वर्ष बाद ही उनकी इहलीला समाप्त हो गयी। इस शोक ने श्रीरामकृष्ण की ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा को द्विगुणित कर दिया, क्योंकि उन्हें अब अन्य चीजें निरर्थक और निःसार प्रतीत होने लगीं। अब वे लोगों के बीच रहने से कतराने लगे। रात के गहरा जाने पर वे मन्दिरोद्यान के उत्तर के घने वनों में चले जाते और वहाँ यज्ञोपवीत एवं मानवनिर्मित अन्य भेदसूचक चिह्नों को ईश्वर से तादात्म्य में बाधक जान उतार फेंकते तथा ध्यान में निमग्न हो जाते। वहाँ से पौ फटने के पहले चुपके से कालीमन्दिर में लौट आते।

जैसे-जैसे श्रीरामकृष्ण अध्यात्म की ऊँचाइयों को छूने लगे तथा व्यवहार के परम्परागत विचारों से मुक्त होने लगे, त्यों-त्यों औपचारिक पूजा-अर्चना उनके लिए कठिन होती गयी। माँ-काली कभी भी उनके लिए केवल प्रतिमा नहीं थीं, वे तो साक्षात् जीवन्त भवतारिणी थीं। अब वे हरदम जगन्माता के निरन्तर सान्निध्य में रहने की इच्छा करने लगे। उनके प्राकट्य में विलम्ब श्रीरामकृष्ण को पीड़ित करने लगा। वेदना से मर्माहत

हो वे विलाप करते, मनुहार करते, छटपटाते तथा विकल की नाईं मुँह को जमीन से रगड़ डालते। अन्त में जब विरह एकदम असह्य हो गया, तब परदा उठ गया और उन्हें जगन्माता के मंगलमय दर्शन मिले। अपने इस प्रथम अनुभव को उन्होंने बाद में इन शब्दों में व्यक्त किया था—"मैं वियोग को और सह नहीं सकता था, जीवन जीने लायक नहीं लग रहा था। अकस्मात् मेरी आँखें माँ के मन्दिर में रखे खड्ग पर जा टिकीं।...मैं पागल की भाँति कूद पड़ा और उसे पकड़ लिया, सहसा आनन्दमयी माँ प्रकट हो गयीं और मैं संज्ञाहीन होकर फर्श पर गिर पड़ा। तदनन्तर क्या हुआ और वह दिन एवं दूसरा दिन कैसे बीता मुझे ज्ञात नहीं; परन्तु मेरे अन्तस् में एक नवीन दिव्य आनन्द निरन्तर प्रवाहित होने लगा तथा मुझे माँ की उपस्थिति की अनुभूति हुई।"

उसके बाद माँ ने उन्हें कभी नहीं छोड़ा। वे उनके लिए जीवन्त अस्तित्व बन गयीं। उन्होंने माँ को अपने चर्मचक्षुओं से सामने घूमते देखा। वे प्रत्येक कार्य के लिए उनसे निर्देश लेने लगे।

तदनन्तर ईश्वर के विभिन्न रूपों का अनुभव करने की उनमें इच्छा जागी। अतः वे वानराधीश श्री हनुमान् का भाव ग्रहण कर राम की भक्ति करने लगे। जोरों से राम-राम जपते हुए हनुमान्‌जी के साथ उनका तादात्म्य-भाव इतना प्रबल हो गया कि न केवल उनके शरीर की हरकतें हनुमान्-जैसी हो गयीं अपितु हनुमान् की कतिपय शारीरिक विशिष्टताएँ भी बीजरूप में उनमें प्रकट हो गयीं। अन्ततः उन्हें राम के दर्शन हुए। पुनः

जब वे नदी के किनारे वृक्ष के नीचे खाली मन बैठे हुए थे, उन्होंने दिन की रोशनी में माँ सीता को अपनी ओर आते और अपने में समाहित होते देखा।

उनका स्वतःस्फूर्त आध्यात्मिक आलोड़न इतना प्रबल था, मन्दिर में ईश्वरीय सत्ता के साथ अनौपचारिक पर जीवन्त सम्पर्क इतना गहरा था और बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के उनकी होनेवाली भौतिक वेदना इतनी तीव्र थी कि सामान्य लोगों के लिए उसका एक ही अर्थ था कि वे पागल हो गये है। यह अफवाह धीरे-धीरे कामारपुकुर तक फैल गयी। उनकी माता स्वाभाविक ही चिन्तित हो उठीं और उन्होंने उपचार एवं विश्राम के लिए उन्हें घर बुलवा लिया। वहाँ भी श्रीरामकृष्ण चुपके-चुपके अपनी साधनाएँ करते रहे, भले ही ऊपर से शान्त और संयत लगते थे। रोग को हरदम के लिए ठीक करने हेतु परिवारवालों ने उन्हें परिणय-सूत्र में बाँधने का निश्चय किया। पर कुछ सामाजिक विवशताएँ उचित पात्री के सन्धान में बाधक हो रही थीं। अन्त में सन् १८५९ में श्रीरामकृष्णदेव के स्वयं के सुझाव से जयरामवाटी की सारदामणि देवी, जिसकी आयु पाँच वर्ष से तनिक ही अधिक होगी, के साथ २३ वर्ष के श्रीरामकृष्ण का विवाह हो गया। तदनन्तर श्रीरामकृष्ण डेढ़ वर्ष से भी अधिक काल दैवी उन्माद में डूबे हुए कामारपुकुर में ही अवस्थित रहे। वहाँ से दक्षिणेश्वर लौटकर वे पुनः दुनिया के लिए अदृश्य-से हो गये।

अब तक वे ईश्वरानुभूति के लिए अपने ही साधनों पर पूर्णतया निर्भर थे, परन्तु अब से वे प्रवीण व्यक्तियों

से बिनमाँगी सहायता पाने लगे। प्रथमतः १८६१ में पूर्वी बंगाल की एक उत्कट आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्ना संन्यासिनी, भैरवी ब्राह्मणी, आयीं। वे श्रीरामकृष्ण को अगणित प्रकार की गुह्य तांत्रिक साधनाओं के क्रम से ले गयीं। उनमें कुछ साधनाएँ तो बड़ी खतरनाक थीं, परन्तु अपनी अनुपम पवित्रता, ऐकान्तिक लगन और माँ-काली के प्रति पूर्ण समर्पण के कारण आसानी से उन्हें सफलता मिलती गयी। भैरवी ने उनकी असाधारण अनुभूतियों पर आश्चर्य प्रकट किया। उन्होंने श्रीरामकृष्ण में प्रकट विशिष्ट बाह्य लक्षणों की शास्त्रीय प्रणाली से जाँच की और खुले-आम उन्हें ईश्वर के अवतार के रूप में घोषित कर दिया। इसे सिद्ध करने के लिए उन्होंने दक्षिणेश्वर में बड़े-बड़े धार्मिक नेताओं तथा पण्डितों की सभा आहूत की और उन सबके सामने अपने विचारों को तर्कों के सहारे तथा शास्त्रों के उद्धरण देकर ऐसी योग्यता के साथ प्रस्तुत किया कि वे उसमें पूरी तरह विजयी रहीं। परन्तु श्रीरामकृष्ण ने इन सब बातों को इस प्रकार देखा जैसे वे किसी दूसरे के बारे में घटित हो रही हों। ऐसी लोकमान्यता से विचलित न हो वे पुनः अन्य आध्यात्मिक गहराइयों में कूद पड़े।

१८६४ में उत्तर भारत के एक प्रवीण वैष्णव गोस्वामी जटाधारी का आगमन हुआ। रामलला के प्रति उनका प्रेम श्रीरामकृष्ण में भी संक्रमित हो गया। गोस्वामी की प्रेरणा से उन्होंने त्वरित प्रगति की तथा बहुत शीघ्र ही उन्हें ईश्वर का अनुभव बालक राम के रूप में हुआ। रामलला वास्तव में श्रीरामकृष्ण के साथ

रहता और उन्हीं के साथ घूमता फिरता। रामकृष्ण उसे प्यार करते और कभी उद्दण्डता के लिए दण्डित भी करते। ऐसे समय रामलला सुबक-सुबककर रोने लगता।

इसके कुछ महीने पश्चात् तोतापुरी मंच पर आये। निर्विकल्प समाधि में सिद्ध ये संन्यासी पंजाब के निवासी थे। वे नागा थे और उन्होंने अनुभूति के उस चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर लिया था, जहाँ बहुत्व की समाप्ति हो जाती है और केवल एक ब्रह्म ही शेष रह जाता है। इस महान् तपस्वी के पथ-प्रदर्शन में श्रीरामकृष्ण ने संन्यस्त जीवन अंगीकार किया। तोतापुरी से अद्वैत वेदान्त प्रतिपादित ज्ञानमार्ग की शिक्षा लेकर वे ध्यान में लीन हो गये तथा पहले ही प्रयास में निर्विकल्प समाधि प्राप्त करके गुरु को आश्चर्याभिभूत कर दिया। इस समाधि को प्राप्त करने में तोतापुरी को ४० वर्ष लगे थे।

श्रीरामकृष्ण की एक विचित्रता यह थी कि उनके शिक्षक भी उनके सम्पर्क में आकर अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाने और अपने अनभवों का मर्म ठीक-ठीक समझने में समर्थ होते थे। तोतापुरी के साथ यह विशेष रूप से घटित हुआ था। वे एक कट्टर वेदान्ती की भाँति विश्व को भ्रमात्मक बताते थे। दर्शनशास्त्रीय दृष्टि से यह सही है और समाधि का यह प्रत्यक्षीकृत सत्य है। परन्तु जब तक किसी में थोडी भी भौतिक चेतना है, वह विश्व के सापेक्ष एवं व्यावहारिक महत्त्व को नकार नहीं सकता। बल्कि उसे तो विश्व को परमेश्वर की अचिन्त्य शक्ति की अभिव्यक्ति मानकर

प्यार करना चाहिए और उसके साथ स्नेह का सम्बन्ध बनाये रखना चाहिए। तोता ने पहले तो काली-माँ की सत्ता को ही अमान्य कर दिया, परन्तु बाद में उनकी धारणा बदल गयी। श्रीरामकृष्ण के प्रति प्रेम के कारण वे दक्षिणेश्वर में बहुत दिनों तक रुक गये और अतिसार रोग से ग्रसित हो गये। उपचार के बाद भी जब वे रोग से छुटकारा नहीं पा सके, तो एक दिन रात को गंगा में डूबकर मर जाने का निर्णय कर लिया। परन्तु आश्चर्य! उस रात नदी इतनी उथली हो गयी कि तोता को डूबने लायक जल नहीं मिला। प्रयास में असफल हो परन्तु मन में प्रकाशित होकर वे लौट आये और माँ-काली के सामने आकर साष्टांग प्रणाम किया। उनके संशोधित जीवन-दर्शन में अब जोर बिन्दुहीन सैद्धान्तिक अस्वीकृति से हटकर फलप्रद व्यावहारिक स्वीकृति पर जाकर केन्द्रित हो गया। यह वह दृष्टिकोण था, जिसे उनके शिष्य के शिष्यों की उपलब्धियों से फलप्रसू होना था। इसके शीघ्र बाद तोता ने दक्षिणेश्वर छोड़ दिया।

श्रीरामकृष्ण ने अब ब्रह्म के साथ पूर्ण तादात्म्य-पूर्वक रहने का निश्चय किया और वे बिना शरीर तथा आसपास की चीजों के होश के छः महीने तक इस अवस्था में पड़े रहे। अन्ततोगत्वा माँ-काली का आदेश मिला—"मानवता के लिए भावमुखी होकर रह।" इसके पश्चात् वे छः माह तक कठिन अतिसार से पीड़ित रहे। इससे उनका मन ईश्वरीय चेतना में लीन रहने के साथ ही व्यावहारिक सत्यों के साथ सामंजस्य बिठाकर रहने को बाध्य हुआ।

अब तक श्रीरामकृष्ण ने हिन्दुत्व के राजमार्गों से चलकर ईश्वर का आनन्द चखा था। वे भक्ति, योग और ज्ञान के रास्तों से चले थे तथा वैष्णव, शाक्त एवं वेदान्त मार्गों के चरम बिन्दुओं पर पहुँचे थे। परन्तु अब भी उनका मन हिन्दुत्व के कटघरे से बाहर निकल ईश्वरीय अनुभव के आनन्द को प्राप्त करना चाहता था। बुद्ध के बारे में अपने परवर्ती जीवन में उन्होंने कहा था—"मैंने बुद्ध के बारे में बहुत कुछ सुना है। वे ईश्वर के दस अवतारों में से एक हैं। ब्रह्म अविचल है, ...अखण्ड चैतन्य है। जब व्यक्ति की बुद्धि इसमें तिरोहित हो जाती है, तब उसे ब्रह्मज्ञान होता है और वह 'बुद्ध' बन जाता है।" जब एक बार नरेन्द्र ने उस लोकप्रिय मत का हवाला दिया कि बुद्ध नास्तिक थे, तब श्रीरामकृष्ण ने कहा, "नास्तिक क्यों? वे नास्तिक नहीं थे। बात यह थी कि वे अपनी अनुभूति को शब्दों में व्यक्त नहीं कर सके थे। क्या तुम जानते हो कि बुद्ध क्या है? अखण्ड चैतन्य का निरन्तर चिन्तन करते हुए उसके साथ एक हो जाना। ...जिस बिन्दु पर व्यक्ति अपने यथार्थ स्वरूप की अनुभूति करता है, वह अस्ति और नास्ति के बीच की अवस्था है।" अतः उनके अनुसार बुद्ध भी एक वेदान्ती हैं, परन्तु बहुतों ने उन्हें गलत समझा है।

मुहम्मद और ईसा स्पष्टतः एक दूसरी श्रेणी के थे। अब उनके धर्मों ने उन्हें आकृष्ट किया। उन्होंने उन मार्गों पर भी चलने का फैसला किया। १८६६ में दक्षिणेश्वर में रह रहे गोविन्द राय से उन्होंने सूफीवाद के रहस्य को सीखा। नये मार्ग में दीक्षित हो

श्रीरामकृष्ण अल्लाह का नाम जपने लगे और नित्यशः निष्ठा के साथ नमाज पढ़ने लगे। उन दिनों उनके मन के सभी हिन्दू विचार लुप्त हो गये; उन्होंने हिन्दू देवताओं को नमन करना तक बन्द कर दिया। तब वे एक हिन्दू बावर्ची से मुसलिम विधि से खाना पकवाते, क्योंकि मुसलिम बावर्ची मन्दिर-परिसर के और भीतर नहीं जा सकता था। श्रद्धा के अतिरेक ने उन्हें तीन दिनों में लक्ष्य तक पहुँचा दिया। प्रथमतः उन्हें सौम्य आकृतियुक्त एक लम्बी दाढ़ीवाले प्रकाशमान पुरुष का दर्शन हुआ। फिर उनका मन सगुण ब्रह्म के ध्यान से गुजरकर अन्ततोगत्वा निर्गुण ब्रह्म में विलीन हो गया।

आठ वर्षों के बाद, १८७४ में, श्रीरामकृष्ण ने ईसाई धर्म के रहस्यों को जानने की दिशा में चेष्टा की। शम्भुनाथ मल्लिक नाम के एक भक्त, जिनका दक्षिणेश्वर में उद्यानभवन था, जब भी श्रीरामकृष्ण उनके पास जाते, वे उन्हें बाइबिल पढ़कर सुनाते और समझाते। फलस्वरूप श्रीरामकृष्ण ईसा तथा ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट हुए। एक दिन जब वे एक दूसरे भक्त जदुलाल मल्लिक के बैठकखाने में बैठे हुए थे—जो कालीमन्दिर से लगकर था—तो उनकी आँखें मरियम के चित्र पर टिक गयीं। इस दृश्य ने उन्हें ध्यानावस्थित कर दिया और वह चित्र अचानक देदीप्यमान हो जीवित हो उठा। उन्होंने अनुभव किया कि उनके हिन्दुत्व के विचार मानो बाजू में ठेल दिये जा रहे हैं। इस संकटावस्था में उन्होंने माँ-काली से प्रार्थना

की—"माँ! यह तू मेरे साथ क्या कर रही है?" परन्तु कुछ न हुआ, बल्कि उन्हें अपनी आँखों के सामने एक चर्च दिखाई दिया, जहाँ भक्तगण ईसा के सम्मुख अगरबत्ती और मोमबत्ती जला रहे थे। तीन दिनों तक ये विचार उनके मन पर छाये रहे। चौथे दिन जब वे दक्षिणेश्वर के पंचवटी-कुंज में टहल रहे थे, उन्होंने एक असाधारण मुखमण्डलवाले गम्भीर पुरुष को देखा, जो देखने में विदेशी लगते थे और जो उन्हें घूरते हुए उनकी ओर आ रहे थे। श्रीरामकृष्ण के मन में यह सहज रूप से उठा कि वे और कोई नहीं, ईसा थे। 'मानवपुत्र' ने उन्हें गले लगा लिया और उनमें प्रविष्ट हो गये तथा इस प्रकार उन्हें गहरी समाधि में निमग्न कर दिया।

इन सब अनुभवों ने श्रीरामकृष्ण में समस्त धर्मों के समन्वय की अनुभूति को जन्म दिया, जिसे उन्होंने बाद में यह कह घोषित किया—"जितने मत उतने पथ"। यह उस वैदिक घोषणा का ही रूपान्तर था, जिसमें कहा गया है—"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"—सत्य एक है, ज्ञानी-जन उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं। यह ऋषियों की वह वाणी है, जिसने भारतीय सभ्यता को आधार प्रदान किया और उसकी धारा को हर मोड़ पर दिशा दी।

श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिक उपलब्धियों का एक शृंखलाबद्ध चित्र प्रस्तुत करने के प्रयास में हम दो महत्त्व-पूर्ण घटनाओं को छोड़ आये हैं। जो संघ उनके नाम से गठित हुआ, उसके भावी विकास में इन घटनाओं की बड़ी अहम भूमिका रही। हम इन घट-नाओं की ओर लौटते हैं। पहली घटना उस समय घटित

हुई, जब १८६८ में मथुरानाथ विश्वास के साथ वे उत्तर भारत के तीर्थाटन पर थे। मथुरानाथ श्रीरामकृष्ण के अनन्य भक्त थे तथा दक्षिणेश्वर के मन्दिर-उद्यान के अधिपति थे। उनका पहला पड़ाव कलकत्ता से ३२० कि. मी. की दूरी पर अवस्थित देवघर में पड़ा था, जहाँ वैद्य-नाथ शिव का प्राचीन मन्दिर है। वहाँ एक दिन श्रीराम-कृष्ण ने अकालपीड़ित ग्रामीणों को अत्यन्त दुरवस्था में देखा। इस दृश्य से क्षुब्ध हो उन्होंने मथुर से कहा, "तुम तो माँ-काली के सेवक हो, इन गरीबों को खाना दो तथा प्रत्येक को एक-एक वस्त्र दो।" मथुर हिचकिचाये, क्योंकि इस भारी खर्च के कारण तीर्थाटन में कठिनाई उपस्थित हो जाती। परन्तु श्रीरामकृष्ण अडिग थे, वे अश्रुधारा बहाते हुए चिल्ला पड़े, "तुम्हें धिक्कार है! मैं वाराणसी नहीं जाता। मैं इन्हीं असहायों के साथ रहूँगा," और एक हठी बालक की भाँति वे जाकर ग्रामीणों के बीच बैठ गये। उनकी करुणा को देख अब मथुर भी द्रवित हो गये। उन्होंने वस्त्रों के लिए आदेश भेज दिया और उन्हें भर-पेट खाना खिलाकर परितुष्ट कर दिया। यहाँ 'भागवत' का एक श्लोक स्मरण हो आता है, जहाँ कहा गया है—

नातिप्रसीदति तथोपचितोपचारै-
रारधितः सुरगणैर्हृदिबद्धकामैः।
यत्सर्वभूतदययासदलभ्ययैको
नानाजनेष्ववहितः सुहृदन्तरात्मा ॥३।९।१२

—'भगवन्, आप एक हैं तथा सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरणों में स्थित उनके परम हितकारी अन्तरात्मा हैं। इसलिए यदि देवता लोग भी हृदय में तरह तरह की कामनाएँ रखकर भाँति-भाँति की विपुल सामग्रियों से आपका पूजन

करते हैं, तो उससे आप उतने प्रसन्न नहीं होते जितने सब प्राणियों पर दया करने से होते हैं। किन्तु सर्वभूतों के प्रति ऐसी दया असत् पुरुषों को अत्यन्त दुर्लभ है।'

संयोगवश अकालपीड़ितों के लिए इसी प्रकार के सेवा-कार्य के निमित्त श्रीरामकृष्ण को उस समय भी मथुर पर दबाव डालना पड़ा, जब वे उनके साथ नदिया जिले में उनकी जमींदारी के दौरे पर गये थे। यह १८७०-७१ के किसी समय की बात होगी।

दूसरी प्रमुख घटना, जिसका उल्लेख हमने ऊपर की ओर किया है, सारदादेवी से सम्बन्धित है, जो श्रीरामकृष्ण की सहधर्मिणी थीं और जो १८७२ ई. के प्रारम्भ में दक्षिणेश्वर आयीं। उनका जन्म कामारपुकुर से पाँच किलोमीटर दूर जयरामवाटी ग्राम में २२ दिसम्बर १८५३ को हुआ था। चूँकि श्रीरामकृष्ण कभी-कभार ही अपने गाँव जाते थे, अतः सारदा अपना अधिकांश समय अपनी माँ के साथ जयरामवाटी में बिताती थीं। श्रीरामकृष्ण-जैसे आध्यात्मिक दिग्गज के ही अनुरूप उनकी पत्नी सारदादेवी भी बचपन से ही तीव्र धार्मिक विचारों-वाली थीं। अपने पति के समान उन्हें भी बीच-बीच में दिव्य दर्शन होते रहते और करुणा में तो वे आसानी से अपने पति से होड़ ले सकती थीं। परन्तु सभी हिन्दू लड़कियों की तरह वे भी बहुत लज्जाशील थीं और यद्यपि उन्हें अपने पति के साथ रहने की इच्छा होती, फिर भी वे इसके बारे में कभी एक शब्द भी नहीं कह पाती थीं। पर परिस्थितियों ने शीघ्र ऐसा मोड़ लिया कि उन्हें निर्णय लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। श्रीरामकृष्ण के विचित्र व्यवहार ने, जिसकी परिणति उनकी

इसलाम-साधना में हुई, लोगों को यह पुनः कहने को विवश कर दिया कि वे पागल हो गये हैं। यह अफवाह जयरामवाटी भी पहुँच गयी। इससे बाध्य हो सारदा-देवी ने अपनी एक सहेली को संकेत किया कि पर्वविशेष में गंगास्नान हेतु जानेवाले दल के साथ वे भी दक्षिणेश्वर जाना चाहती हैं। वे वास्तव में विश्वस्त होना चाहती थीं कि उनके साधु पति को कुछ भी नहीं हुआ है, जिन्हें उन्होंने कुछ ही वर्ष पूर्व कामारपुकुर में इतने प्रेमी और ख्याल करनेवाले स्वभाव का पाया था। उनकी यह भी इच्छा थी कि यदि पति को उनकी सेवा की आवश्यकता हुई, तो वे वहीं दक्षिणेश्वर में ही रुक जाएँगी। जब उनके पिता को पुत्री की इच्छा बतायी गयी तो उन्होंने सब समझ लिया और स्वयं सारदा को दक्षिणेश्वर ले गये।

सारदादेवी अब १८ वर्ष की हो गयी थीं और पत्नीत्व के अर्थ को समझने लगी थीं। वे सहमती हुई पति के कमरे में प्रविष्ट हुईं। पर श्रीरामकृष्ण ने उन्हें अतुल प्यार से ग्रहण किया और अपनी शय्या पर सोने के लिए भी अनुमति दे दी। उनके गुरु तोतापुरी ने कहा था कि ब्रह्म-ज्ञान की परीक्षा पत्नी की उपस्थिति में ही ठीक से होती है। परन्तु उन्हें अपनी पत्नी की भावना से भी परिचित होना था। इसलिए उन्होंने पूछा, "क्यों जी, क्या तुम मुझे सांसारिकता में खींचने आयी हो?" उनका तुरन्त उत्तर था, "नहीं जी! . . .मैं तो तुम्हें तुम्हारे चुने हुए रास्ते में सहायता देने आयी हूँ।" एक दूसरे दिन उनके पैरों को दबाते समय वे पूछ बैठीं, "तुम मुझे किस दृष्टि से देखते हो?" श्रीरामकृष्ण का उत्तर था, "उसी माँ की दृष्टि से जो मन्दिर में है, जिसने इस शरीर को जन्म

दिया है और अभी नौबतखाने में रहती है (उनकी माँ उस समय वहीं रहती थीं), और इस समय मेरे पैर दबा रही है।" इस प्रकार दोनों आत्माएँ कुछ समय के लिए पवित्र सान्निध्य में रहीं और ५ जून १८७२ की अमावस्या को उन्होंने औपचारिक रूप से सारदा की जगज्जननी के रूप में पूजा की तथा उसके अन्त में अपनी सम्पूर्ण आध्यात्मिक साधनाओं का फल, अपनी जपमाला के साथ, उनके चरणों में अर्पित कर दिया। सारदादेवी ने, जिन्हें अब हम श्री माँ कहकर पुकारेंगे, जैसा कि उन्हें परवर्तीकाल में पुकारा जाने लगा, यह सब गहरे ईश्वरीय ध्यान में तल्लीन हो स्वीकार किया और श्रीरामकृष्ण भी गम्भीर समाधि में लीन हो गये। दोनों आत्माओं ने विवाह का एक नया अर्थ खोज निकाला और वह था आध्यात्मिक स्तर पर नित्य मिलन, जहाँ से वे कभी भी देह के स्तर पर नहीं उतरे।

फिर भी उनका मानव-धरातल पर मिलन भी एक दूसरी दृष्टि से पूरी तरह सार्थक रहा। उसने मानव मात्र में ईश्वरत्व की अधिकतर अभिव्यक्ति का मार्ग खोल दिया। और, वस्तुतः, इसी उद्देश्य से तो इन दोनों का पृथ्वी पर आगमन हुआ था। पर वह भावी इतिहास उस जमाने के लोगों के लिए अभी एक बन्द किताब के समान था। उदाहरण में कहें, श्रीरामकृष्ण की सास, श्यामासुन्दरी, ने दुःख व्यक्त किया, "कैसे पागल के साथ मैंने अपनी पुत्री का विवाह किया! न तो उसका कोई पारिवारिक जीवन है, न कोई सन्तान है, न कोई उसे 'माँ' कहकर पुकारनेवाला है!"

श्रीरामकृष्ण ने एक दिन इसे सुना और कहा, "सासू-माँ, उसके लिए चिन्ता न करो। तुम बाद में दखोगी कि तुम्हारी बेटी के इतनी सन्तानें होंगी कि वह 'माँ' 'माँ' की पुकार सुनकर घबरा जाएगी।" श्री माँ भी सरलता के कारण कभी कभी पड़ोसियों की इस बात पर विश्वास कर लेतीं कि सन्तानरहित नारी का जीवन अभिशाप है और तब वे उदास हो जाया करतीं। श्रीरामकृष्ण ने उनके मन को भाँपकर एक दिन सान्त्वना देते हुए कहा, "तुम क्यों चिन्तित होती हो? मैं तुम्हें ऐसे सन्तानरत्न दे जाऊँगा, जैसा कोई अपना सिर काटकर तपस्या करने से भी नहीं पा सकता। तुम बाद में देखोगी कि तुम्हें इतने बच्चे 'माँ' कहकर पुकार रहे हैं कि तुम सम्हाल नहीं पाओगी।" श्यामासुन्दरी इस भविष्यवाणी को घटता देखने के लिए जीवित रहीं। और उनकी निःसन्तान पुत्री सारदादेवी ने देखा कि वे शीघ्र ही शत-शत भक्तिमान् सन्तानों के हृदय में श्री माँ के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी हैं।

इस दैवी लीला की पृष्ठभूमि की गुजरती झलक लेकर अब हम संघ की स्थापना के इतिहास के सूत्रों को फिर से पकड़ सकते हैं। श्रीरामकृष्ण के चरणों में एकत्रित शिष्यगण नव सन्देश प्राप्त कर रहे थे। नरेन्द्रनाथ स्वाभाविक रूप से उस दल के अगुवा चुने गये, क्योंकि ज्यों ज्यों हम आगे बढ़ेंगे, हम देखेंगे कि वे असामान्य सामर्थ्यसम्पन्न व्यक्ति थे—न केवल नव सन्देश के मर्म को समझने की दृष्टि से, अपितु उसे कार्यरूप देने की भी दृष्टि से। इसके लिए ऐसे माध्यम की नितान्त आवश्यकता थी। सूर्य की ऊर्जासम्पन्न किरणें शून्य आकाश में करोड़ों करोड़ों

मील चलकर भी ताप या प्रकाश उत्पन्न नहीं कर पातीं, पर जब वे पृथ्वी या चन्द्रमा आदि से टकराती हैं, तभी मानव उनसे ताप और प्रकाश पाता है और उनका समुचित उपयोग कर पाता है। नरेन्द्र सर्वोत्तम परावर्तनकारी माध्यम थे। वह इन दो आत्माओं का सम्पर्क था, जिसने हिन्दुत्व के कुछ बुद्धि-अगोचर कथनों को ऐसे व्यावहारिक अर्थ से युक्त किया कि साधारण लोग भी उनका अर्थ समझने लगे।

यह नरेन्द्र कौन थे ?

नरेन्द्र के पिता विश्वनाथ दत्त कलकत्ता के एक धनी और सुसंस्कृत विधिवेत्ता थे। उन्होंने अपने पुत्र के बौद्धिक जीवन को गहराइयों तक प्रभावित किया था। उनकी पत्नी भुवनेश्वरी देवी एक धर्मप्राणा और महीयसी महिला थीं। उन्हीं की प्यारभरी गोद में नरेन्द्र ने अपने देशवासियों की धार्मिक परम्पराएँ सीखीं। १२ जनवरी १८६३ को जनमे नरेन्द्र एक नटखट बालक क रूप में बड़े हुए। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे, इसलिए हर क्षेत्र में वे चमक उठे तथा शहर के उस भाग में अपने संगी-साथियों में सहज ही अगुवा बन गये। जब वे रात को सोने के लिए जाते, तो उनकी दृष्टि के सम्मुख एक चमकदार गेंद प्रकट हो जाती; उसका आकार बढ़ता रहता और वह अन्त में उन्हें लपेट लेती तथा नरेन्द्र निद्रामग्न हो जाते। उन्होंने इसे सामान्य घटना माना और कभी किसी को नहीं बताया। यह तो श्रीरामकृष्ण के साथ परिचित होने पर उन्होंने जाना कि वह अतीत जीवन के योगाभ्यास का संकेत था। बचपन में भी छोटी-छोटी मूर्तियों के सामने ध्यान का खेल खेलना उन्हें अच्छा

लगता और वे लम्बी अवधि तक निस्पन्द बैठे रहते। जैसे जैसे वे बड़े होते गये, ध्यान में वे प्रवीण होते गये तथा दीर्घकाल ध्यान में बिताया करते। अपनी युवावस्था में कम से कम एक बार पूर्ण जाग्रत् अवस्था में उन्होंने बुद्ध के दर्शन किये। दक्षिणेश्वर जाने से पूर्व वे ब्राह्मसमाज के प्रति आकर्षित थे तथा वहाँ अपने मित्रों के साथ प्रायः जाया करते थे। वे मधुर कण्ठ से गाते तथा विविध वाद्ययंत्रों को पर्याप्त निपुणता से बजा लेते। एथलेटिक्स में, और विशेषतः कुश्ती में, उन्हें महारत हासिल थी। वादविवाद में उनका कोई सानी नहीं था। उनके प्राध्यापक उन्हें प्यार करते तथा उनसे बड़ी आशाएँ रखते थे। परन्तु वे मुँहफट थे, इससे कुछ लोग उन्हें गलत समझ लेते और सोचते कि इसे अपनी बुद्धि और आभिजात्य का बड़ा घमण्ड है। उनकी आदतें बहुत साधारण थीं। वेशभूषा के प्रति उनका ध्यान नहीं था, वे मित्रता में गर्मजोशीले थे तथा उनकी उदारता उन्मुक्त थी।

नरेन्द्र अपने यौवन में कर्म और चिन्तन में जैसे शूरवीर थे, उससे कहीं अधिक अपनी आध्यात्मिक अभिलाषा में शूरमा थे। उन्होंने शीघ्र ही जान लिया कि सामाजिक सुधार, दूसरी प्रणालियों के साथ बौद्धिक समझौते तथा कुछ राष्ट्रीय धार्मिक रीति-रिवाजों का संकोचभरा स्वीकरण, जो उस समय के अधिकांश प्रगतिशील आन्दोलनों का आधार थे, उनकी आत्मिक बुभुक्षा को शान्त नहीं कर सकते थे, फिर उनके द्वारा ईश्वरानुभूति के लक्ष्य तक पहुँचने की बात तो दूर ही रही। ऐसा

लड़खड़ाता और शुष्क बुद्धिवाद तो व्यक्ति की उचित शंकाओं को भी दूर नहीं कर सकता था । जॉन स्टुअर्ट मिल, ह्यूम तथा हर्बर्ट स्पेन्सर के अध्ययन से उनमें विचारों का झंझा पैदा हुआ । इस झंझा ने अन्त में सन्देहवाद का रूप ले लिया । फिर भी उनकी अन्तर्निहित आध्यात्मिक पिपासा उन्हें चुप नहीं बैठने देती थी । वे ब्राह्मसमाज को कुछ प्यार करते थे । वे उसके जाति,बहुदेववाद, मूर्तिपूजा, गुरु एवं अवतारवाद के खण्डन से सहमत थे तथा नारी-मुक्ति के उसके अभियान को सही मानते थे, परन्तु उनकी आत्मा और भी कुछ ठोस चाहती थी । वास्तव में वे तो युवा बंगाल के विशिष्ट प्रतिनिधि थे, जो विज्ञान के प्रहार, ईसाइयत और पश्चिमी संस्थाओं के बोझ से छटपटा रहा था । फिर इन सबका आकर्षण भी बहुत था, फलत: इनको एकबारगी दूर करके राष्ट्रीय संस्कृति और विश्वास के आधार पर दृढ़तर कदमों से खड़े रहने में भी यह दल समर्थ नहीं था । उधर नरेन्द्र का मन उस समस्या से भिड़ा हुआ था कि "क्या ईश्वर है ?" उन्होंने उन सब लोगों से, जो इस प्रश्न का उत्तर देने में समर्थ थे, पूछा, "महाशय ! क्या आपने ईश्वर को देखा है ?" परन्तु कोई भी इस अशान्त जिज्ञासु को सन्तुष्ट न कर सका ।

अन्तत: १८८१ के अन्त में एक दिन, जब नरेन्द्र प्रथम कला की परीक्षा दे चुके थे, उनके सम्बन्धी रामचन्द्र दत्त तथा पड़ोसी सुरेन्द्रनाथ मित्र ने उन्हें प्रेरित किया कि वे दक्षिणेश्वर हो आवें । प्रथम दृष्टि में ही श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र में छिपे आध्यात्मिक दिग्गज को चीन्ह लिया, क्योंकि अन्य किसी की आँखों में वह शक्ति नहीं थी, जो इतनी प्रबल अन्तर्मुखता से भरी हो और नगर के

भौतिकतापूर्ण वातावरण के बीच अपने परिवेश के प्रति इतनी उदासीन हो। वे अपने कमरे के घिरे हुए उत्तरी बरामदे में नरेन्द्र को ले गये और अश्रुपूरित नेत्रों से उसका हाथ पकड़कर बोल उठे, "आह! तुम इतने विलम्ब से आये।...मेरे कान संसारी लोगों की बातें सुनते सुनते पक गये हैं।" ऐसा कह वे सिसकने लगे और हाथ जोड़कर बोले, "भगवन्, मैं जानता हूँ कि तुम नारायण के अवतार वह प्राचीन ऋषि नर हो, मानवता का दुःख दूर करने धराधाम पर आये हो।"

नरेन्द्र तो हक्का-बक्का हो गये तथा श्रीरामकृष्ण के मानसिक सन्तुलन पर शंका करने लगे। परन्तु ज्यों ही रामकृष्ण भक्तों के बीच आये, वे एक सामान्य व्यक्ति के समान व्यवहार करने लगे; हाँ, इतना ही लगा कि उनमें त्याग का सच्चा भाव है और वे ईश्वरीय अनुप्रेरणा से उद्दीप्त हैं। अतः नरेन्द्र उनके पास गये और अपना बेचैन करनेवाला प्रश्न उनसे पूछ बैठे, "महाशय, क्या आपने ईश्वर को देखा है?" उत्तर तुरन्त मिला, "हाँ, मैं ईश्वर को उसी तरह देखता हूँ जैसे तुम्हें देख रहा हूँ; बल्कि कहीं और तीव्र रूप से। ईश्वर को देखा जा सकता है। कोई भी उन्हें देख सकता है। और बातें कर सकता है, जैसे मैं तुमसे बात कर रहा हूँ।" इस भेंट के बाद नरेन्द्र ने श्रीरामकृष्ण का आकलन इस प्रकार किया—"यदि ये पागल भी हों, तो भी पवित्रों में भी पवित्र हैं, एक सच्चे सन्त हैं, और केवल इसी के लिए मनुष्य की श्रद्धा-पूजा के पात्र हैं।"

दक्षिणेश्वर की दूसरी बार की मुलाकात और अधिक रोचक थी। श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र को प्यार से अपने

बाजू में बैठा लिया और जल्दी ही अपना, दाहिना पैर उनके शरीर पर रख दिया। नरेन्द्र ने उसके बाद होनेवाले अनुभव को इस प्रकार वर्णित किया—"मेरी आँखें खुली हुई थीं, मैंने देखा कि कमरे की दीवालें एवं प्रत्येक वस्तु तेजी से घूम रही है तथा शून्य में विलीन हो जा रही है। समूचा विश्व, मेरे व्यक्तित्व के साथ, एक रहस्यमय शून्य में विलीन ही होनेवाला है।" इसे सह न पा वे चिल्ला पड़े, "अजी, यह तुम क्या कर रहे हो! मेरे माता-पिता जो हैं।" श्रीरामकृष्ण ठहाका लगाकर हँस पड़े और बोले, "ठीक है, ठीक है, आज बस यहीं तक।" नरेन्द्र पुनः सहजभाव में आ गये।

तीसरी भेंट में नरेन्द्र ने निश्चय किया कि वे इस रहस्यमय प्रभाव का प्रतिकार करेंगे। उस दिन श्रीरामकृष्ण नरेन्द्र को बाजू के जदुलाल मल्लिक के बगीचे में ले गये और शीघ्र ही समाधि में लीन हो गये। उन्होंने नरेन्द्र का स्पर्श किया, जिससे उनका मन उच्चतर भूमि में चला जाय, जहाँ उनके व्यक्तित्व के रहस्यों का खुलासा हो सके। इस विषय में श्रीरामकृष्ण ने बाद में कहा था, "जब वह उस अवस्था में था, मैंने उसकी सत्ता के बारे में पूछा—उसके निवास, उसके संसार में रहने की अवधि तथा इस संसार में उसके आने के उद्देश्य के बारे में पूछा। वह अपनी गहराई में डूब गया और उसने मेरे प्रश्नों का सटीक उत्तर दिया। इन बातों ने उसकी पुष्टि ही की, जिसे मैंने उसके बारे में देखा और अनुमान किया था।"

प्रथम भेंटों के इस विवरण के साथ हम उन कुछ विचारों की ओर मुड़ते हैं, जिनको भावी स्वामी विवेका-

नन्द ने आत्मसात् किया था। पर इस विषय पर विचार करते हुए हमें श्रीरामकृष्ण की स्वयं की घोषणा का स्मरण रखना होगा कि नरेन्द्र तथा अन्य कुछ लोग नित्य-सिद्ध हैं—वे जन्म से ही पूर्ण हैं। वे कहा करते, "वे जिस प्रक्रिया से गुजर रहे हैं, उसकी स्वयं उन्हें अपने लिए आवश्यकता नहीं है, वह तो संसार के भले के लिए है।" यदि कोई नरेन्द्र की थोड़ी सी भी आलोचना कर देता, तो वे कह उठते, "नरेन का कोई भी मूल्यांकन न करे। कोई उसे पूरी तरह कभी नहीं समझ सकेगा।" वे उस आलोचक को भी चेतावनी देते कि वह निपट ईश्वर-निन्दा कर रहा है। और नरेन्द्र की योग्यता की वे कैसी विपुल प्रशंसा करते थे! एक दिन उन्होंने कह दिया, "यदि केशव में महानता का एक लक्षण है, तो नरेन में ऐसे अठारह लक्षण हैं।" जब नरेन ने इसका प्रतिवाद किया, तो उन्होंने उत्तर में मात्र यह कहा, "मैं क्या करूँ?...जगन्माता ने मुझे जो दिखाया, वही मैंने दुहरा दिया है।" पर नरेन्द्र तब भी सन्तुष्ट नहीं हुए।

श्रीरामकृष्ण नरेन्द्र को उत्कट प्यार करते थे और उनका वियोग उनके लिए असह्य था। एक बार जब इस प्रेम से खींचे जाकर वे कलकत्ता के एक पूजास्थल पर नरेन्द्र से मिलने गये और अपमानित हुए, तब बाद में नरेन्द्र क्रोधित हो उठे थे और उन्हें चेतावनी दी थी कि उनका इस प्रकार का मोह उनके लिए खतरनाक होगा। नरेन्द्र की बात पर विश्वास करके श्रीरामकृष्ण क्षुब्ध हो उठे थे और माँ-काली के पास प्रकाश के लिए उपस्थित हुए थे। माँ का उत्तर सुनकर उन्होंने कहा था, "जा रे दुष्ट, मैं तेरी बात अब नहीं सुनूँगा। माँ का कहना

है कि मैं तुझे इसलिए प्यार करता हूँ कि तुझमें भगवान् का दर्शन करता हूँ, और जब मैं ऐसा दर्शन नहीं करूँगा तो तेरी ओर देख तक न सकूँगा ।" यह मानव-सम्बन्धों का वेदान्त दर्शन था, जिसको हम बाद में रामकृष्ण-आन्दोलन में पूरी तरह से खिलते हुए देखेंगे । श्रीराम-कृष्ण ने उसे इस प्रकार से समझाया ।

सन् १८८४ ई. की घटना है । वार्तालाप के प्रसंग में वैष्णव मत की बात उठी । इस सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण ने कहा, "इसके अनुसार ये तीन बातें नित्य करणीय हैं—नाम में रुचि, जीव पर दया, वैष्णव की सेवा ।" वे अपनी बात पूरी कह भी न पाये थे कि वे समाधिस्थ हो गये । कुछ समय पश्चात् जब उनकी अर्धचेतना लौटी, तो वे कहने लगे, "जीवों पर दया ! जीवों पर दया ! दूर हो मूर्ख ! तू कीटाणुकीट ! जीवों पर दया करेगा ! दया करनेवाला तू होता कौन है ? नहीं, नहीं, जीवों पर दया नहीं—शिव-ज्ञान से जीवों की सेवा !" यह बात सभी ने सुनी, पर उसका गूढ़ मर्म नरेन्द्र ही समझ पाये । कमरे से बाहर आकर उन्होंने दूसरों से कहा, "गुरुदेव की बात से आज कैसा अद्भुत आलोक मिला ! वेदान्त-ज्ञान को भक्ति के साथ मिलाकर उन्होंने कैसा सहज, सरस और मधुर प्रकाश डाला है ! गुरुदेव की इन बातों से मैंने यही समझा है कि वन के वेदान्त को घर में लाया जा सकता है, संसार के सभी कार्यों में उसका सहारा लिया जा सकता है ।. . .वह ईश्वर ही जीव-जगत् सब कुछ बने हैं—हम जिनको प्यार करते हैं, वे सब भी उस ईश्वर के ही अंश हैं; और फिर भी ईश्वर सबसे परे हैं ।. . .मानव के भीतर में ईश्वरत्व

का इस प्रकार बोध अभिमान-अहंकार की गुंजाइश नहीं रखता।...शिव-ज्ञान से जीव-सेवा करते करते साधक का चित्त शुद्ध हो जायगा और वह थोड़े समय में अपने को भी चिदानन्दमय ईश्वर का अंश तथा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव अनुभव कर सकेगा। जो हो, यदि भगवान् ने मुझे कभी मौका दिया, तो इस अद्भुत सत्य का संसार में सर्वत्र प्रचार करूँगा—पण्डित-मूर्ख, धनी-निर्धन, ब्राह्मण-चाण्डाल सबको सुनाकर मुग्ध करूँगा।" उन्होंने श्रीरामकृष्ण के कथन से यह भी जाना कि यद्यपि कर्मयोग भक्तियोग, राजयोग और ज्ञानयोग—इनमें से प्रत्येक ही मुक्ति तक ले जाने में समर्थ है, तथापि सामान्यजनों के लिए इनका समन्वय ही अधिक स्वाभाविक और सुगम पथ है।

नरेन्द्र ने स्वामी विवेकानन्द बनकर अपनी प्रतिज्ञा को अक्षरशः पूर्ण किया। उन्होंने अपनी वक्तृत्व-शक्ति का प्रयोग अपने व्यावहारिक वेदान्त और मानवता का एकत्व के दर्शन को दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रचारित करने के लिए किया; अपनी संगठन-शक्ति का उपयोग रामकृष्ण मठ और मिशन के गढ़ने और उसे क्रियान्वित करने में किया; तथा अपनी काव्य-शक्ति को निम्नलिखित पंक्तियाँ (मूल बँगला में) लिखने में पूरी छूट दे दी—

अन्तस्तल के तुम अधिकारी,
सिन्धु प्रेम का भरा अपार
अन्तर में, 'दो'—जो चाहे,
हो बिन्दु सिन्धु उसका निःसार।
ब्रह्म और परमाणु-कीट तक,

सब भूतों का है आधार
एक प्रेममय, प्रिय, इन सबके
चरणों में दो तन-मन वार।
बहु रूपों से खड़े तुम्हारे आगे,
और कहाँ है ईश ?
व्यर्थ खोज। यह जीव-प्रेम की
ही सेवा पाते जगदीश।

फिर भी नरेन्द्र ने वेदान्त के व्यावहारिक पक्ष को बिना 'क्यों-कैसे' के स्वीकार नहीं किया। श्रीरामकृष्ण की इच्छा थी कि अद्वैतवाद के मूल विचारों को नरेन्द्र के मन में भरा जाए, क्योंकि वे तो प्रत्यक्ष वास्तविकताएँ थीं, जिनको उन्होंने स्वयं के जीवन में उतारा था। जब कोई घास के ऊपर चला, तो उन्हें लगा कि वह उनके सीने पर से चल रहा है। जब दो नाविक झगड़ पड़े और एक ने दूसरे की पीठ पर थप्पड़ मार दिया, तो उसकी उँगलियों के निशान श्रीरामकृष्ण की अपनी पीठ पर उभर आये और वे वेदना से कराह उठे। कलकत्ता की सड़कों पर से जाते हुए उन्होंने सब लोगों को ईश्वर की ही विभिन्न अभिव्यक्तियों के रूप में देखा, फिर चाहे वे समाज के सबसे नीचे तबके के हों या वृक्ष के नीचे खड़े अजनवी हों। पर नरेन्द्र के लिए तो अद्वैतवाद अब भी एक बिना सिर-पैर का बौद्धिक सिद्धान्त था। उन्होंने इसका प्रतिकार किया तथा यह कहते हुए उसकी निन्दा की, "यह पाखण्ड है, क्योंकि ऐसे दर्शन तथा नास्तिकवाद में कोई अन्तर नहीं है।" एक अवसर पर उन्होंने इसका उपहास करते हुए कहा, "यह कैसे हो सकता है ? यह लोटा, कप और हम सभी ईश्वर हैं, इससे अधिक असंगत बात

कोई नहीं हो सकती ।" श्रीरामकृष्ण ने उनकी बात सुनी तथा अर्धचेतनावस्था में वहाँ पर आये और नरेन्द्र से पूछा, "तुम किसके बारे में बात कर रहे हो ?" फिर उन्होंने मुसकराते हुए नरेन्द्र का स्पर्श किया और समाधिस्थ हो गये । "ठाकुर के उस जादुई-स्पर्श ने," नरेन्द्र ने बाद में कहा था, "तुरत मेरे मन में आश्चर्यजनक परिवर्तन ला दिया । मैं यह देख अचम्भे से गड़ गया कि ईश्वर के अलावा इस संसार में वास्तव में कुछ भी नहीं है।...मैं घर लौट आया और वहाँ भी यही देखा कि हर वस्तु ब्रह्ममय हो गयी है ।" विश्व उन्हें निरर्थक प्रतीत होने लगा और वे विचित्र अवस्था को प्राप्त हो गये । इससे उनकी माताजी भयभीत हो गयीं । नरेन्द्र ने कहा था, "ऐसी अवस्था कुछ दिनों तक बनी रही ।...उसके बाद से मैंने कभी भी वेदान्त-दर्शन के निष्कर्षों को अस्वीकार नहीं किया ।"

श्रीरामकृष्ण एक अनोखे मसीहा थे, जिनमें धर्म की और मानव-जीवन के सभी क्षेत्रों की समस्त विरोधी बातें आकर समन्वित हो गयी थीं । और यदि नरेन्द्र ने इस अद्वैतवाद को मान लिया था, तो उन्हें अब दूसरी अति की ओर—ब्राह्मसमाजी होने के बावजूद ईश्वर की प्रतिमाओं के सामने सिर झुकाने की ओर ले जाना था । और यह उनके जीवन में एक कठिन पीड़ादायक घटना के माध्यम से साधित हुआ । प्रवीण वेदान्ती तोतापुरी ने जिस पीड़ा में से गुजरकर इस सत्य को स्वीकारा था, नरेन्द्र की पीड़ा उनसे कहीं अधिक थी । नरेन्द्र १८८४ में बी. ए. की परीक्षा में प्रविष्ट हुए और उसके तुरन्त बाद ही उन्हें दुनिया की कठोर वास्तविकता से जूझना पड़ा ।

उस वर्ष के प्रारम्भ में, परीक्षा-परिणाम निकलने के पूर्व ही, उनके पिता का देहान्त हो गया। विश्वनाथ दत्त ने बहुत धन कमाया था, परन्तु व्यय भी उतनी ही उदारता से किया था। फलस्वरूप उनके निधन के बाद परिवार को भोजन और वस्त्र के लिए भी मोहताज होना पड़ा। परिवार को राहत देने के लिए घर के सबसे बड़े लड़के नरेन्द्र ने नौकरी की खोज में शहर का कोना कोना छान मारा, परन्तु कहीं सफलता नहीं मिली। वह व्यक्ति जो भविष्य में गरीबों की सेवा करनेवाला था, उसे शायद ऐसी दुर्दशा के भुक्तभोगी होने की आवश्यकता थी। पर वे इस कष्ट को और नहीं सह सके। हताश हो वे श्रीराम-कृष्ण के पास गये तथा उनकी ओर से माँ-काली से प्रार्थना करने को कहा। श्रीरामकृष्ण बोले, "मेरे बच्चे, मैं एसा निवेदन नहीं कर सकता। परन्तु तुम स्वयं क्यों नहीं जाते और माँ से निवेदन करते ? तुम्हारे सारे दु:ख इसलिए हैं कि तुम माँ को मानते नहीं हो।" अत: अन्त में नरन्द्र स्वयं कालीमन्दिर में गये, मूर्ति के सामने साष्टांग प्रणाम किया तथा अपनी माँग को एकबारगी भूलकर एक सच्चे साधक के समान प्रार्थना करने लगे, "माँ, मुझे विवेक दो, त्याग की शक्ति दो, मुझे ज्ञान और भक्ति दो। मुझ पर कृपा करो जिससे मैं तुम्हारा अबाध दर्शन पा सकूँ।" उनके लौटने पर श्रीरामकृष्ण ने जाना कि क्या हुआ है। उन्होंने उन्हें दूसरी, फिर तीसरी बार माँ के मन्दिर में भेजा, परन्तु नरेन्द्र इससे अधिक कुछ नहीं माँग सके। उनका मन ऐसे उच्च धरातल पर था कि वे जगन्माता से, जो सदा के लिए सारी चाह मिटा देने के लिए वहाँ विराजमान थीं, ऐसी तुच्छ चीजों की माँग

नहीं कर सके। उन्होंने समझ लिया कि यह सब श्रीराम-कृष्ण का ही खेल है और उनसे निवेदन किया कि वे जो आवश्यक समझें करें। तब श्रीरामकृष्ण बोले, "ठीक है, तुम्हारे घर के लोगों को मोटा चावल और मोटे वस्त्र की कमी नहीं होगी।" इस बात से नरेन्द्र आश्वस्त अवश्य हुए, परन्तु उनके लिए वह नया आध्यात्मिक आलोक अधिक महत्त्वपूर्ण था, जिसे उन्होंने पाया था। पूरी रात वे माँ के संगीत गाते रहे और थककर प्रातःकाल सो गये। श्रीरामकृष्ण अतीव प्रसन्न थे कि नरेन्द्र ने जगन्माता को स्वीकार लिया है।

नरेन्द्र में यह परिवर्तन श्रीरामकृष्ण के लिए क्यों महत्त्वपूर्ण था ? उनके भावी सन्देशवाहक केवल नकारात्मक दर्शन लेकर विश्व को आलोड़ित नहीं कर सकते थे। कोई न कोई ठोस पृष्ठभूमि कहीं न कहीं होगी, और वह गुमी हुई कड़ी जगन्माता ने जोड़ दी, जिसे सर्वातीत ब्रह्म की अनिर्वचनीय शक्ति कहा जाता है तथा जिसके कारण उस एक, अद्वय, अस्पर्श्य ब्रह्म का विश्व में सर्वान्तर्यामी बनना सम्भव होता है। पुराकाल के सिद्ध सन्तों ने उस पराशक्ति के साथ सदैव हार्दिक प्रेम और भक्ति का नाता जोड़ा है, जैसा कि 'भागवत' (१।७।१०) में कहा गया है—

> आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
> कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ।।

—'जो लोग ज्ञानी हैं, जिनकी अविद्या की गाँठ खुल गयी है और जो सदा आत्मा में ही रमण करनेवाले हैं, वे भी भगवान् की हेतुरहित भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान् के गुण ही ऐसे मधुर हैं, जो सबको अपनी ओर

खींच लेते हैं ।'

सचाई यह है कि मनुष्य का दिन-प्रतिदिन का जीवन शुद्ध इन्द्रियातीत धारणा पर नहीं खड़ा रह सकता । मुक्त आत्माओं के लिए भी ईश्वर के सर्वान्तिर्यामी पक्ष के साथ एक ठोस शाश्वत सम्बन्ध स्थापित करना युक्तिसंगत आवश्यकता हो जाती है । श्रीरामकृष्ण चाहते थे कि व्यावहारिक जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए नरेन्द्र ईश्वर के अन्तर्यामित्व के साहसिक और ठोस विचारों को आत्मसात् करे, ताकि गलत रूप से व्याख्यायित पलायनवाद या संसार-नकार के दर्शन की बू उसमें न आए । उन्हें तो समूचे हृदय से सत्ता की समग्रता को स्वीकारना था, मात्र उतने अंश को नहीं, जो उनकी व्यक्तिगत रुचि के साथ मेल खाता था; वैयक्तिक कल्याण को सबके कल्याण में लीन कर देना था, क्योंकि एकमात्र उसी में उच्चतम सिद्धि निहित थी । संसार का अलग-थलग रूप असुन्दर है, परन्तु जब हम उसे ईश्वर की लीला समझते हैं, तो वह प्यारा हो जाता है ।

फिर भी श्रीरामकृष्ण त्याग के प्रबल पक्षधर थे—यही नहीं, वे त्याग के जीवन्त रूप थे । उनके मतानुसार, गीता का आशय था—हर वस्तु से अनासक्ति । परवर्ती जीवन में वे धातु तक का स्पर्श नहीं कर सकते थे और अनजान में हुआ स्पर्श उनमें असह्य वेदना पैदा कर देता था । जैसा कि हमने देखा है, उन्होंने अपनी पत्नी सारदा-देवी की जगन्माता के रूप में पूजा की थी । जब उनके तरुण शिष्य उनके समीप अकेले होते, तो वे उन्हें त्याग की प्रेरणा देते; अकेले में संसार की क्षणभंगुरता का

उपदेश देते। जब निरंजन अपनी माँ के पालन-पोषण के लिए एक लिपिक की नौकरी करने विवश हुए, तो श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "यदि यह नौकरी तेरी माँ के निमित्त न होती, तो तूने जो किया है, उससे तेरे चेहरे की ओर भी मैं नहीं देख सकता था।" जब भी कोई होनहार युवक उनके पास आता, तो उनका पहला प्रश्न होता, "क्या तुम विवाहित हो ?" यदि उत्तर "हाँ" में होता, तो वे बड़े हताश हो जाते। शरत् और शशि को उन्होंने बाइबिल में लिखे सेण्ट पाल के विवाह सम्बन्धी विचार बताये। लगता कि सांसारिक जीवन को इस प्रकार नकारना उनके सामान्य दृष्टिकोण के विपरीत है। पर यह सही नहीं था। उनके मतानुसार, जीवन के उच्चतर मूल्यों की प्राप्ति के लिए मनुष्य को क्षुद्रतर वस्तुओं का त्याग करना पड़ना है; ऊपर से आनेवाली पुकार स्वाभाविक ही मनुष्य को नीचे के आकर्षण को विजित करने के लिए विवश करती है। वास्तव में, उनका त्याग महत्तर उपलब्धियों का पर्याय था, जहाँ व्यक्त वस्तु भी अन्ततोगत्वा अपनी परिपूर्णता प्राप्त करती है। जब हरि (स्वामी तुरीयानन्द) ने पूछा, "काम को कैसे दूर किया जा सकता है ?" उनका उत्तर था, "उसे दूर क्यों करोगे ? उसे एक नया मोड़ दे दो।" अर्थात् उसे ईश्वर की ओर मोड़ दो। जीवन की समस्याओं के प्रति उनका यही दृष्टिकोण था, जिसमें सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों विधियाँ थीं, पर उन्होंने सर्वदा सकारात्मक दृष्टि-कोण पर ही अधिक बल दिया।

दो दृष्टान्तों के द्वारा इसे समझा जा सकता है। एक दिन ब्रह्मचर्य की आवश्यकता पर चर्चा हो रही

थी। हरि ने कुछ गर्व से कहा, "मैं नारियों से घृणा करता हूँ, मैं उनकी उपस्थिति को भी सहन नहीं कर सकता।" उन्हें बढ़ावा देने की बजाय श्रीरामकृष्ण जोरों से डाँट उठे, "कैसी मूर्खता है? तेरा नारियों से घृणा करने का क्या मतलब? वे तो जगन्माता की प्रतिमूर्ति हैं। तुझे उनमें अपनी माँ का दर्शन करना चाहिए और तद्वत् उनका सम्मान करना चाहिए। यही एकमात्र उपाय है, जिससे उनके दूषित प्रभाव से बचा जा सकता है। दूसरी ओर, तू उनसे जितनी घृणा करेगा, उतना ही उनके जाल में फँसने का जोखिम रहेगा।" श्रीरामकृष्ण ने यौन-शुद्धि का यह जो उपाय बतलाया, वह प्रचलित सामान्य उपायों से भिन्न है, जहाँ मात्र दूरी बनाये रखने की बात कही जाती है।

और जब एक महिला-भक्त ने कहा कि वह ईश्वर का ध्यान नहीं कर पा रही है, क्योंकि ऐसा करते ही किसी का चेहरा उसके सामने आ जाता है, तो श्रीरामकृष्ण ने सहानुभूतिपूर्वक पूछा, "किसका चेहरा है?" महिला ने बताया कि वह उसके छोटे भतीजे का है। तब उन्होंने उपाय सुझाते हुए कहा, "बच्चे को बालगोपाल के रूप में देखो।" और इसका वांछित प्रभाव पड़ा।

आरम्भ
(१८८६-१८८७)

नरेन्द्र तथा अन्य युवक साधकगण जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण प्राप्त कर इस प्रकार क्रमशः अध्यात्म की उच्चतर अवस्थाओं की ओर ले जाये जा

रहे थे कि श्रीरामकृष्ण गम्भीर रूप से बीमार पड़ गये तथा उन्हें कलकत्ता ले जाने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। इसके कारण आपात् दृष्टि से शिष्यों के प्रशिक्षण में व्यवधान-सा लगा, पर बाद की घटनाओं ने दिखा दिया कि वह और भी सघन तैयारी के लिए मार्ग प्रशस्त करनेवाली घटना सिद्ध हुई। १८८५ के अक्तूबर के प्रथमार्ध में श्रीरामकृष्ण को उपचार के लिए ५५ श्यामपुकुर स्ट्रीट, कलकत्ता में रखा गया और बाद में ११ दिसम्बर को नगर के उत्तरी छोर में ९० काशीपुर रोड में, जो दक्षिणेश्वर के मार्ग में पड़ता है, स्थानान्तरित किया गया। इन दोनों स्थानों में, विशेषकर काशीपुर में, युवा शिष्य श्रीरामकृष्ण की सेवा-शुश्रूषा के लिए एकत्र हुए, जिसने उन्हें परस्पर स्नेह-सम्बन्ध में बाँध दिया। रामकृष्ण मठ वास्तव में काशीपुर उद्यान-गृह में प्रारम्भ हुआ। स्वामी विवेकानन्द ने १८९७ में लिखा था—"हमारे समस्त सम्बन्ध उस उद्यान को लेकर केन्द्रित हैं। वास्तव में वही हमारा प्रथम मठ था।"

श्यामपुकुर का कमरा छोटा था। इसलिए, तथा अन्य कारणों से भी, केवल कुछ ही युवक, यथा—काली, लाटू एवं शशि ही वहाँ हर समय रह पाते थे। शेष दूसरे वहाँ आते और दिन को काम करते, तथा सम्भव या आवश्यकता होने पर देर तक रुक जाते। फिर वहाँ पर श्री माँ भी थीं, जो श्रीरामकृष्ण तथा अन्य सभी का भोजन तैयार करतीं। वे जिस दिन से वहाँ आयीं,

उस दिन से उनका वात्सल्य इन तरुणों को भ्रातृत्व की मजबूत डोर में गूँथने के लिए सक्रिय हो उठा। निस्सन्दिग्ध, वह आगामी वर्षों में उनके मातृस्नेह का ही मौन प्रभाव था, जिसने इन संन्यासियों को एक स्थायी भ्रातृसंघ में पिरो दिया। दक्षिणेश्वर में रहते समय भी यह सर्वमान्य हो गया था कि श्री माँ का स्थान अद्वितीय है, पर वहाँ संकोचवश वे प्रायः घर के अन्दर ही रहती थीं। केवल लाटू, योगीन और बूढ़े गोपाल ही उनके पास जाते थे। यहाँ तक कि अन्तिम दो के साथ भी वे बहुत कम ही प्रत्यक्ष बातचीत करती थीं। परन्तु श्यामपुकुर में स्थितियाँ बदल गयीं और वे अपने पुत्रों के अधिक समीप आ गयीं। जब श्रीराम-कृष्ण काशीपुर के बड़े मकान में चले गये और प्रायः सभी भावी संन्यासी आकर उनकी सेवा में लग गये, तब श्री माँ को स्वाभाविक ही अधिक मात्रा में मौन नेतृत्व करना पड़ा तथा सक्रिय मार्गदर्शन नरेन्द्र के जिम्मे पड़ा।

काशीपुर में घटी कुछ घटनाएँ विशेष उल्लेख-योग्य हैं, क्योंकि वे रामकृष्ण मठ और मिशन के इतिहास पर प्रकाश डालती हैं। समय-समय पर श्री-रामकृष्ण ने कुछ सूत्रात्मक बातें कही थीं—"मैं अपने जाने से पहले भरे बाजार में हाँड़ी फोड़ता जाऊँगा," "जब लोग अधिकाधिक संख्या में इस शरीर की महानता के बारे में कानाफूसी करने लगेंगे, तब माँ इसे वापस ले लेगी," "अन्त-अन्त में भक्तगण भीतरी और बाहरी ऐसे दो दलों में बँट जाएँगे।" इन भविष्यवाणियों की पूर्ति का समय समीप आ रहा था।

श्रीरामकृष्ण के परामर्श पर सुरेन्द्रनाथ मित्र ने काशीपुर उद्यान-गृह को ८०) मासिक लीज पर अपने नाम से ले लिया। इसके अतिरिक्त, सम्पूर्ण खर्च जो किराये के साथ २००) मासिक तक हो जाता था, का अधिकतर भाग स्वयं सुरेन्द्रनाथ द्वारा वहन किया जाता था। दूसरे भक्त जैसे बलराम बोस, महेन्द्रनाथ गुप्त, रामचन्द्र दत्त, गिरीशचन्द्र घोष और मनोमोहन मित्र ने मिलकर शष व्यय-भार वहन किया। तरुण भक्तों की संख्या बढ़ने लगी और नरेन्द्र, राखाल, बाबूराम, निरंजन, योगीन्द्र, तारक, लाटू, बूढ़े गोपाल, काली, शशि, शरत् एवं छोटे गोपाल हर समय सेवा में रहने लगे। शारदा, हरि एवं गंगाधर घरेलू दबाव के कारण वहाँ रात को नहीं रुक पाते थे, परन्तु वे प्रायः ही श्रीरामकृष्ण के दर्शनों के लिए आया करते। श्रीरामकृष्ण भी अब अपनी योजनाओं को मूर्तरूप देने के लिए तत्पर हुए। उन्होंने विशेष रूप से श्री माँ तथा नरेन्द्र इन दो का चयन किया, ताकि उनके निधन के बाद उनकी योजना का क्रियान्वयन किया जा सके। जहाँ तक श्री माँ का प्रश्न है, दक्षिणेश्वर और श्याम-पुकुर में रहते समय भी श्रीरामकृष्ण ने उनकी महानता के सम्बन्ध में भक्तों को सचेत करने के लिए कोई कसर न उठा रखी थी तथा उधर उन्होंने श्री माँ को भी प्रेरित किया था कि वे अपनी इस उच्च नियति को स्वेच्छा और प्रसन्नतापूर्वक स्वीकारें। युवकों को विशेष-तया उनके संरक्षण में रखा जाना था और महिला-भक्तों को उनमें जीवन के हर क्षेत्र में एक तत्पर सहायक मिलना था। काशीपुर में श्रीरामकृष्ण ने इन

सब बातों को अधिक स्पष्ट कर दिया। एक दिन माँ सारदा ने पाया कि ठाकुर उन्हें काफी देर से एकटक देख रहे हैं। ऐसा लगता था कि वे कुछ काम की बात कहने में संकोच कर रहे हैं। अन्त में माँ को ही पूछना पड़ा, "तुम बोलते क्यों नहीं?" ठाकुर ने पीड़ित स्वर में कहा, "क्या तुम कुछ नहीं करोगी? क्या इसे (अपने शरीर की ओर इशारा करके) अकेले सब कुछ करना पड़ेगा?" माँ ने उत्तर दिया, "मैं औरत की जात, मैं भला क्या कर सकती हूँ?" "नहीं, नहीं," ठाकुर ने कहा, "तुम्हें बहुत काम करना है।" ऐसे ही संकेत वे बीच-बीच में दिया करते। इसके अतिरिक्त, उन्होंने उन्हें बहुत से मंत्र सिखलाये, जो विभिन्न श्रेणी के साधकों के लिए थे। उन्होंने कलकत्ता के लोगों की आध्यात्मिक दरिद्रता की बात श्री माँ को बतलायी। उन लोगों को भौतिकवाद के दलदल से निकालकर बाहर लाना था। उन्होंने माँ को दूर देशों से आनेवाले भावी शिष्यों के दर्शन के बारे में भी बतलाया। वे यह कहते नहीं थके कि एक महान् भविष्य श्री माँ की अपेक्षा कर रहा था और यह कि वे दैवी थीं। श्री माँ ने सब कुछ सुना, पर वे इतनी संकोची थीं कि उन्होंने कभी पूर्णतः उन बातों को मान्यता नहीं दी। पर जो हो, ठाकुर तो बीच-बीच में अपने शिष्यों से कहते रहते कि वह सारदा है, सरस्वती है, ज्ञान देने आयी है। कभी कहते—वह मेरी शक्ति है। उनका तात्पर्य सम्भवतः दैवी ऊर्जा से रहा हो, जो एक ओर प्रकट होती है पार्थिव प्रम के रूप में, जो इस दुःखपूर्ण संसार में जीवन को जीने योग्य बनाती है, तथा दूसरी

ओर शान्त आध्यात्मिक उत्साह के रूप में, जो मानव-उन्नति को सम्भव बनाती है।

बीमारी के प्रारम्भ से ही नरेन्द्र को ज्ञात हो गया था कि ठाकुर महाप्रयाण की तैयारी कर रहे हैं तथा यह भी कि काशीपुर में उन लोगों को ठाकुर की आँखों के सामने वैयक्तिक एवं सामूहिक रूप से आध्यात्मिक उन्नति का अन्तिम और श्रेष्ठ अवसर दिया जा रहा है। एक रात उद्यान में टहलते हुए उन्होंने शरत्, छोटे गोपाल तथा अन्य कुछ लोगों से कहा, "ठाकुर की बीमारी गम्भीर है। ऐसा न हो कि वे नश्वर शरीर का त्याग करना चाहते हों। उनकी सेवा के माध्यम से तथा प्रार्थना और ध्यान करते हुए तुम लोग आध्यात्मिक उत्थान के लिए भरसक प्रयास करो, जो भी समय बचा है उसका भरपूर उपयोग करो। कहीं ऐसा न हो कि उनके महाप्रयाण के बाद तुम्हें पछताना पड़े। हम इस मूर्खतापूर्ण विचार में अपना समय जाया कर रहे हैं कि अमुक काम खतम करके ईश्वर की प्रार्थना करेंगे। वह तो अपने ऊपर इच्छाओं की और भी शृंखलाएँ जकड़ लेना है, और इच्छा का अर्थ है मृत्यु। हमें तुरन्त इसको जड़ से निकाल फेंकना है।" नरेन जानते थे कि कैसे बोलना चाहिए और जो कहा उसका मतलब समझते थे। उनकी वह प्रेरक वाणी बहरे कानों पर नहीं पड़ी। अतः काशीपुर में युवा भक्तों के दिन एक तीव्र आध्यात्मिक वातावरण में सतत सेवा करते हुए बीतने लगे। इस सबके साथ ही उनका दर्शनशास्त्र और धर्म का अध्ययन जारी था। काशीपुर का उद्यान-भवन एक ही साथ मन्दिर और विश्वविद्यालय दोनों

बन गया।

कभी-कभी नरेन्द्र रातभर 'राम' 'राम' का उच्चारण करते हुए बेचैनी में टहलते हुए बिताते और कभी खुले आकाश के नीचे धूनी क सामने बैठकर ध्यान में लीन हो जाते। तब उन्हें अनुभव होता कि उनकी कुण्डलिनी जाग गयी है और योगज शक्तियाँ भीतर उत्तेजित हो रही हैं। फिर भी वे ब्रह्मानुभूति के लिए व्याकुल रहते और ठाकुर से प्रार्थना करते कि वे उनकी मनोकामना पूरी कर दें। एक दिन उन्होंने ठाकुर से कहा, "मैं प्राचीन युग के शुकदेव की भाँति पाँच-छः दिनों तक निरन्तर समाधि में डूबकर रहना चाहता हूँ, केवल शरीर को जीवित रखने हेतु भोजन के लिए कभी-कभी समाधि से बाहर आना चाहता हूँ और तदनन्तर पुनः उसमें लीन हो जाना चाहता हूँ।" "तुझे धिक्कार है!"—ठाकुर तिरस्कार कर उठे, "तू ऐसा बड़ा आधार होकर ऐसी बातें करता है! कहाँ मैं सोचता था कि तू एक विशाल वटवृक्ष की तरह होगा, जिसकी छाया में हजारों लोग शरण लेंगे और कहाँ मैं देखता हूँ तू अपनी ही मुक्ति के लिए कातर हो रहा है!" नरेन्द्र इस उचित फटकार से मर्माहत हुए, परन्तु शीघ्र ही उनकी इच्छा की पूर्ति हो गयी। एक सायंकाल उन्हें निर्विकल्प समाधि प्राप्त हो गयी और उन्होंने सारी शारीरिक चेतना खो दी। घबराहट में बूढ़े गोपाल सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर भागे तथा ठाकुर को सूचित किया। ठाकुर ने बस यही कहा, "अच्छा है! उसे कुछ देर इसी अवस्था में पड़े रहने दो। उसने इसके लिए मुझे बहुत तंग किया है।" जब नरेन्द्र

प्रकृतिस्थ हुए और ठाकुर के पास गये, तो उन्होंने कहा, "अब माँ ने तुझे सब कुछ दिखा दिया है, परन्तु तेरी यह अनुभूति ताले में बन्द रहेगी तथा ताली मेरे पास रहेगी। तेरे पास करने के लिए काम है, जब वह समाप्त कर लेगा, तो ताला खुल जाएगा।" बाद में उन्होंने अन्य शिष्यों से कहा था, "नरेन की जब इच्छा होगी, तभी उसकी मृत्यु होगी। जिस क्षण उसे ज्ञात होगा कि वह कौन है, वह इस शरीर में नहीं रहेगा।"

यद्यपि ठाकुर का स्वास्थ्य दिनोंदिन गिरता जा रहा था, पर उनके निर्देशन में, श्री माँ की स्नेहपूर्ण देखरेख में तथा नरेन्द्र के प्रोत्साहन में युवावर्ग एक सुखी परिवार की तरह रह रहा था। वास्तविक अर्थ में उनमें से किसी का भी संसार से सीधा सम्पर्क नहीं था। नियति चाहती थी कि उन्हें संन्यास का कुछ पूर्व स्वाद मिल जाय। और संन्यास तो दूसरों की उदारता पर ही निर्भर करता है। इन अनुभवहीन युवकों के लिए यह स्वाभाविक था कि वे ठाकुर की सेवा में लगे होने तथा आत्मोन्नति के लिए साधन में व्यस्त रहने के कारण हिसाब रखने में उतनी सावधानी न बरत पाएँ। जब व्यय का देयक अधिक आने लगा, तो रामचन्द्र दत्त के नेतृत्व में कुछ भक्त पूरा हिसाब माँगने लगे। जब वह पेश किया गया, तो वे सन्तुष्ट नहीं हुए। हिसाब में कुछ पैसे का अन्तर था। इससे नाहक का एक तूफान खड़ा हो गया। ठाकुर ने युवकों के चेहरे को देखकर ही सारी बात भाँप ली और उन्हें दृढ़तापूर्वक ऐसी अवस्था में और पैसा लेने से मना कर दिया। बल्कि वे नरेन्द्र तथा उनके साथी जहाँ ले जायँ

वहीं जाने के लिए तैयार हो गये। उन्होंने बता दिया कि वे लोग भिक्षा माँगकर जो कुछ लाएँगे उसी से वे सन्तुष्ट रहेंगे। पर दूसरे विचार के आने पर उन्होंने कुछ दूसरे भक्तों से राय लेना उचित समझा और सबसे पहले गिरीशचन्द्र घोष से परामर्श किया। जब गिरीश ने सारी बात सुनी, तो उन्होंने हिसाब की पुस्तिका अपने हाथ में लेकर उसे फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया। उन्होंने वचन दिया कि सारा खर्च वे अकेले ही वहन करेंगे, भले ही इसके लिए उन्हें अपनी पैतृक सम्पत्ति की ईंट-ईंट क्यों न बेच देनी पड़े। जब स्थिति इतनी बिगड़ गयी, तब रामचन्द्र तथा उनके मित्रों ने अपनी गलती महसूस की और तूफान शान्त हुआ। यह तुच्छ घटना शीघ्र विस्मृति के गर्भ में समा गयी, पर यह मधुर स्मृति छोड़ गयी कि ठाकुर बुरे दिनों में लड़कों के साथ ही रहना पसन्द करते।

जब श्रीरामकृष्ण ने अनुभव किया कि उनका जीवन कुछ ही दिनों के लिए शेष है, तो उन्होंने नरेन्द्र को बुलाया और कहा, "इन युवकों को तेरी देखरेख में छोड़ रहा हूँ। इनका ध्यान रखना कि मेरी मृत्यु के बाद भी ये साधना करते रहें और घर वापस न जाएँ।" एक दूसरे दिन त्याग के जीवन की तैयारी के रूप में उन्होंने उन युवकों को, कटूक्तियों और व्यंग्य की परवाह न करते हुए, भिक्षाटन के लिए घर-घर जाने को कहा। भिक्षा से एकत्रित अन्न दोपहर के भोजन के लिए पकाया गया। ठाकुर ने उसमें से एक दाना लिया तथा उत्साहित करते हुए कहा, "बहुत अच्छा, यह अन्न बड़ा पवित्र है।"

एक दूसरे दिन वार्तालाप का विषय था त्याग। ठाकुर बोले, "काम एवं कांचन अज्ञानता है। ज्ञान, त्याग और भक्ति ये ब्रह्मज्ञान की विभूतियाँ हैं। ब्रह्म-ज्ञान के बाद भी कुछ लोग विद्या का अहं रखते हैं, जिससे मानव-जाति को शिक्षा दी जा सके, भक्ति के आनन्द का स्वाद ले सकें और भक्तों की संगति का आनन्द उठा सकें।" जब नरेन्द्र ने शिकायत की—"जब मैं त्याग की वकालत करता हूँ तो कुछ लोग मुझसे रुष्ट हो उठते हैं," तब श्रीरामकृष्ण ने कहा, "मनुष्य को त्याग करना ही चाहिए, . . .जब तुम देखते हो कि हर चीज ईश्वर से परिपूर्ण है, तब फिर क्या तुम परिवार या ऐसी ही कोई वस्तु अलग करके देख सकते हो?"

फिर निवेदन का वह दिन भी आ गया। जनवरी १८८६ की बात है। बूढ़े गोपाल तीर्थाटन से लौटे थे, वे चाहते थे कि कलकत्ता से गुजरनेवाले कुछ संन्या-सियों को गेरुआ वस्त्र तथा रुद्राक्ष की जपमाला भेंट करें। इस पर ठाकुर ने नरेन्द्र तथा दूसरों की ओर इशारा करके कहा, "ये रहे वैराग्य से पूर्ण बच्चे। तुम इनसे अच्छे संन्यासी अन्यत्र नहीं पा सकते। इन्हीं को वस्त्र एवं जपमाला बाँट दो।" गोपाल के पास १२ नग कपड़े थे और उतनी ही जपमालाएँ। उन्होंने वह सब ठाकुर को दे दिया। एक सन्ध्या ठाकुर ने इन लड़कों को—रामकृष्ण संघ के भावी सन्देशवाहकों को—बुलाया, एक समारोह आयोजित किया और उन्हें गेरुआ वस्त्र तथा जपमालाएँ दे दीं। तदनन्तर घोषणा की कि अब से वे धर्म या जाति का विचार न करते हुए सबके

हाथ का खाना खा सकेंगे। उस दिन उन सौभाग्यवानों में थे—नरेन्द्र, राखाल, योगीन्द्र, बाबूराम, निरंजन, तारक, शरत्, शशि, बूढ़े गोपाल, काली और लाटू। १२वाँ नग गिरीशचन्द्र घोष के लिए सुरक्षित रख दिया गया। एक दूसरे अवसर पर ठाकुर ने नरेन्द्र से कहा, "मेरी यौगिक शक्ति भविष्य में तेरे माध्यम से अभिव्यक्त होगी।" उन्होंने अपनी पसन्द का चयन पहले से ही कर लिया था और अब अपना कार्य जल्दी ही कर लेना चाहते थे। इस उद्देश्य से वे हर शाम नरेन्द्र को अपने कक्ष में बुलाते और उन्हें निर्देश देते कि किस प्रकार दूसरे युवा शिष्यों को एक साथ रखा जाना है तथा उन्हें निर्धारित त्यागपूर्ण जीवन के लिए कैसे प्रशिक्षित किया जाना है।

१८८६ के दिन तेजी से बीतने लगे और वियोग की घड़ी क्रमशः समीप आने लगी। केवल कुछ दिन बाकी थे। ठाकुर को अत्यधिक वेदना हो रही थी और वे बमुश्किल बोल पाते थे। उन्होंने नरेन्द्र को अपने समीप बुलाया और एक कागज के टुकड़े पर लिखा, "नरेन शिक्षा देगा।" नरेन्द्र ने विरोध किया, "मैं ऐसा नहीं करूँगा." परन्तु ठाकुर ने उत्तर दिया, "तुझे करना ही पड़ेगा।"

अन्तिम बिदाई से तीन या चार दिन पूर्व ठाकुर ने नरेन्द्र को अपने पास बुलाया और उसकी ओर देखते हुए समाधिस्थ हो गये। नरेन्द्र ने महसूस किया कि विद्युत्-प्रवाह जैसा कुछ उनके भीतर प्रवाहित हो रहा है, और वे बाह्यचेतनाशून्य हो गये। जब वे होश में आये, तो देखा ठाकुर रो रहे हैं। इसका कारण पूछा

जाने पर ठाकुर ने कहा, "अरे नरेन, आज मैं तुझे सब कुछ देकर फकीर हो गया हूँ! इस शक्ति के द्वारा तू महान् कार्य करेगा और इसके बाद ही तू जहाँ से आया है वहाँ लौट सकेगा।"

महाप्रयाण के दो दिन पूर्व जब नरेन्द्र ठाकुर की शय्या के पास खड़े थे, तो उनके मन में एक विचित्र विचार कौंधा—"अच्छा, इन्होंने तो कई बार कहा है कि वे ईश्वर के अवतार हैं। यदि वे मृत्यु की इस वेदना से तड़पते समय भी आज ऐसा कहें, तभी मैं विश्वास करूँगा।" तत्क्षण ठाकुर ने उनकी ओर मुड़कर देखा और अपनी सारी शक्ति को एकत्र कर वे स्पष्ट शब्दों में बोल उठे, "ओ मेरे नरेन, अब भी अविश्वास? जो राम, जो कृष्ण, वही इस बार रामकृष्ण—पर तेरे वेदान्त की दृष्टि से नहीं!"

१५ अगस्त १८८६ की मध्यरात्रि बीती और एक बजकर दो मिनट पर पर्दा गिर गया। अकथनीय शोक से सबका हृदय भर उठा। दूसरे दिन पवित्र पार्थिव शरीर की गंगा के किनारे काशीपुर श्मशानघाट में दाहक्रिया सम्पन्न की गयी। भस्मियाँ ताम्रपात्र में संचित कर ली गयीं और नियमित उपासना के निमित्त उस पात्र को ठाकुर की शय्या पर रख दिया गया। श्रीरामकृष्ण की मृत्यु नहीं हो सकती थी। उन्होंने मात्र अपने मर्त्य चोले को त्यागा था, जिससे अब वे हरेक व्यक्ति के लिए हर समय कहीं अधिक यथार्थ रूप में आसानी से गम्य हो जायँ। उनकी भस्मियाँ तथा उनके द्वारा व्यवहृत वस्तुएँ उनकी शाश्वत उपस्थिति की स्मारक के रूप में रहनेवाली थीं। उन्होंने स्वयं इसका

प्रमाण प्रस्तुत कर दिया। रीति-रिवाज के अनुसार श्री माँ वैधव्य-जीवन अंगीकार करने के उद्देश्य से उस शाम सारे गहने एक-एक करके उतार रही थीं। इतने में ठाकुर उनके सामने प्रकट हुए। बीमारी के पूर्व जैसे थे, उसी रूप में आये और माँ का हाथ पकड़कर बोले, "क्या मैं मर गया हूँ जो तुम सौभाग्य-कंगन अपनी कलाई से उतार रही हो?" अतः उन्होंने कंगन नहीं उतारे। इसी तरह का दर्शन नरेन्द्र और एक दूसरे शिष्य हरीश को भी मिला। महाप्रयाण के एक सप्ताह बाद, लगभग ८ बजे शाम को वे काशीपुर भवन के सामने तालाब के समीप खड़े थे तथा अपूरणीय क्षति के कारण शोकाकुल थे कि इतने में नरेन्द्र ने देखा कोई चमकदार सजी हुई छाया दरवाजे से चलकर धीरे-धीरे उन्हीं की ओर आ रही है। उन्होंने सोचा—"क्या ये ठाकुर हैं?" पर वे शान्त रहे—यह सोचकर कि कहीं वह उनका भ्रम न हो। पर उनके साथी ने बुदबुदाते हुए कहा, "वह क्या है?" अतः नरेन्द्र ने चिल्लाकर पूछा, "वहाँ .कौन है?" चिल्लाहट सुनकर सभी दौड़ पड़े कि बात क्या है। परन्तु वह तेजस्वी छाया नरेन्द्र और हरीश से १० गज की दूरी पर जूही की झाड़ी के पास जाकर विलुप्त हो गयी। इस घटना ने नरेन्द्र के ऊपर एक गहरी छाप छोड़ दी। उन्हें विश्वास हो गया कि ठाकुर अब भी उनके साथ हैं।

परन्तु कष्ट एक दूसरे स्थान पर जन्म ले रहा था। ठाकुर के निधन के केवल तीन दिन बाद ही वह सामने आ गया। ३१ अगस्त को उद्यान-गृह की लीज समाप्त हो रही थी और रामचन्द्र के नेतृत्ववाले भक्त

इसका नवीनीकरण नहीं चाहते थे। उनके अनुसार युवकों को आगे कुछ नहीं करना था। उन लोगों की—विशेषकर नरेन्द्र की, परिवार की विषम परिस्थितियों को देखते हुए—आवश्यकता अपने-अपने घर में थी। अतएव उन्हें सलाह दी गयी कि वे काशीपुर छोड़कर चले जायँ और अपना अध्ययन जारी करें या दूसरे अन्य काम करें। श्री माँ शोक के शमन हेतु तीर्थाटन पर जा सकती थीं। जहाँ तक भस्मी-कलश का प्रश्न था, उसे काँकुड़गाछी के उद्यान-भवन में रखा जा सकता था। यह स्थान कलकत्ता के पूरब में स्थित था और तब एक निर्जन गाँव था। ठाकुर के परामर्श पर रामचन्द्र ने ध्यान या सामूहिक भजन-कीर्तन के लिए उसकी स्थापना की थी। ठाकुर वहाँ २६ दिसम्बर, १८८३ को गये थे। इस स्थान का भावनात्मक आकर्षण होने से प्राय: सभी वरिष्ठ भक्तों ने इस अन्तिम प्रस्ताव पर सहमति व्यक्त की। इसके विपरीत यह विचार भी व्यक्त किया गया कि ठाकुर सदा गंगातट पसन्द करते थे। फिर कुछ युवक तो अपने परिवार से सम्बन्ध-विच्छेद कर चुके थे और अब उनके पास जाने के लिए कोई दूसरा घर न था। उनके लिए भी एक आश्रम की व्यवस्था करनी थी। पर उनके पास धन नहीं था और उन्हें अपने सपनों के लिए सहारा नहीं मिल पा रहा था। १८९५ में स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्वामी ब्रह्मानन्द (राखाल) को लिखे गये पत्र में इस परिस्थिति का उल्लेख किया गया है—"राखाल, तुम्हें याद होगा कि ठाकुर के गुजर जाने के बाद बलराम, सुरेन्द्र, महेन्द्र और चुनी, जो हमारे जरूरत के मित्र थे, को छोड़कर

सभी ने हम लोगों का मजाक उड़ाया कि ये फालतू के लोग हैं।" सुरेन्द्र की सहायता का प्रस्ताव कुछ सप्ताह बाद आया। कठिनाई के उन दिनों में, जिसकी चर्चा हम कर रहे हैं, वह सहायता दृष्टिगोचर नहीं हो रही थी। दूसरे शुभचिन्तक किसी भारी आर्थिक दायित्व का वहन नहीं करना चाहते थे; वे तो बस थोड़ी-सी आर्थिक सहायता कर सकते थे, जिससे अस्थायी कठिनाइयाँ हल हो सकें।

हालत जो सतह पर दिखलाई पड़ रही थी, वह उपर्युक्त थी, पर अधिक गहरे तो वे आदर्शगत मतभेद थे, जिन्होंने दोनों दलों की मानसिक प्रवृत्ति का निर्धारण किया। रामचन्द्र तथा कुछ अन्य लोगों ने इस कथन को मान्यता नहीं दी कि श्रीरामकृष्ण ने संन्यासियों का कोई संघ बनाने का इरादा किया था या उन्होंने किसी को कोई गेरुआ वस्त्र प्रदान किया था। उनका तर्क था कि यदि ऐसे विचार ठाकुर के मन में थे, तब रामचन्द्र-जैसे प्रिय शिष्य को उसकी खबर पहले लगती। पर सचाई यह थी कि रामचन्द्र ने ठाकुर को पूरी तरह नहीं जाना था, यद्यपि उनका विश्वास था कि जाना था। इसका कारण था ठाकुर का प्रशिक्षण देने का वह तरीका, जिसमें वे हर व्यक्ति को उसकी क्षमता के अनुसार उसके लक्ष्य तक पहुँचने का उपाय बताते थे। ऐसा कोई कार्य नहीं किया जाता था, जिससे अपने मार्ग के प्रति उसकी श्रद्धा में कोई प्रतिकूलता आए। इसीलिए ठाकुर सबके सामने संन्यास की महिमा का बखान करने से बचते थे। ऐसा विशेष निर्देश तो वे अकेले में कुछ इने-गिने शिष्यों को ही देते।

अतएव इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं थी कि सामान्यतया भक्तों को स्पष्ट नहीं मालूम था कि दक्षिणेश्वर तथा काशीपुर में कमरे के भीतर क्या घटित हो रहा है। उनकी मानसिक बाधाओं में एक यह भी थी, जिसके कारण वे ठाकुर को पूरी तरह से समझने से वंचित थे। फिर दूसरी कठिनाई भी थी--ठाकुर के सम्पर्क में आने से पूर्व वे कुछ ऐसे सामाजिक परिवेशों और रीति-रिवाजों के अधीन रह चुके थे, जिसके फलस्वरूप उनके मन पर गहरे संस्कार पैदा हो गये थे। इसके कारण नव आन्दोलन के प्रति उनका दृष्टिकोण भी प्रभावित हो गया था। वे तहेदिल से इस विचार को मान्यता नहीं देते थे कि चूँकि केवल संन्यासी ही पूरी तरह सर्मपित हो प्रयत्न में लगे रह सकते हैं इसलिए ठाकुर का सन्देश उन्हीं लोगों के द्वारा सबसे प्रभावी रूप से प्रचारित हो सकता है तथा जीवन में उतारा जा सकता है। फिर भी रामचन्द्र तथा उनके मित्रों की प्रशंसा में यह बात अवश्य कहनी चाहिए कि वे भी अपने ढंग से टाकुर के द्वारा पर्याप्त रूप से अनुप्राणित थे और उनके जीवित रहते ही सार्वजनिक सभाओं, संगीत-जुलूसों, पुस्तकों एवं पत्रिकाओं के प्रकाशन आदि के द्वारा, अपनी समझ के अनुसार, नये भाव को लोगों के सम्मुख रखने का प्रयास करते थे। रामचन्द्र, मनोमोहन एवं सुरेन्द्रचन्द्र दत्त इस क्षेत्र में अगुआ थे। परन्तु साथ ही वे नरेन्द्र आदि के विचारों का उपहास भी करते थे। उन दिनों का स्मरण करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने बाद में कहा था, "एक छोकरे की कल्पनाओं के साथ कौन सहानुभूति रखता, जिन

कल्पनाओं ने दूसरों को (अर्थात् अपने परिवार के लोगों को) इतना कष्ट पहुँचाया ? मेरे साथ कौन सहानुभूति रखता ? एक के अलावा कोई नहीं ? उस एक की सहानुभूति ने आशा तथा आशीर्वाद प्रदान किया। वह एक महिला थीं।...वह महिला, उनकी पत्नी (अर्थात् श्री माँ) ही अकेली ऐसी थीं, जिन्होंने उन लड़कों के विचारों के प्रति सहानुभूति दिखायी। परन्तु वे शक्ति-हीन थीं, हम लोगों से भी गरीब थीं। कोई हर्ज नहीं ! हम लोग तो कूद पड़े थे। जैसा मैं जी रहा था वैसा ही यह विश्वास था कि ये विचार भारत को यौक्तिकता प्रदान करेंगे तथा अनेक देशों और पाश्चात्य जातियों के लिए शुभ दिन लाएँगे। उस विश्वास से यह प्रतीति पैदा हुई कि उन विचारों के संसार से लुप्त होने की अपेक्षा कुछ लोगों का कष्ट सहना श्रेयस्कर है। यदि एक माँ अथवा दो भाई मौत के शिकार हो जाते हैं तो उससे क्या ? यह एक त्याग है। ऐसा होने दिया जाय। बिना त्याग के कोई बड़ी चीज नहीं की जा सकती। हृदय को निकाल लेना होगा और रक्त रिसते उस हृदय को वेदी पर रख देना होगा। तब कहीं महान् चीजें होती हैं। क्या कोई दूसरा मार्ग है ? किसी ने अब तक तो पाया नहीं।"

यही वह उत्साह था, जिसने हताशा के उन बुरे दिनों में इन अगिनखोर साधकों को सहारा दिया। पर रामचन्द्र आदि ने भावी सम्भावनाओं का ऐसा कोई सुखद चित्र नहीं देखा; उन्होंने तो वर्तमान में युवकों की असहायता ही देखी। उन्होंने ठाकुर की भस्मी को काशीपुर के युवकों से माँगा। नरेन्द्र देने के लिए तैयार

भी थे, परन्तु शशि और निरंजन ने चुपके से भस्मी के एक बड़े भाग को नये पात्र में रखकर बलराम बोस के कलकत्तावाले मकान में स्थानान्तरित कर दिया। साथ में ठाकुर द्वारा प्रयोग में लायी गयी कुछ चीजें भी वहाँ ले गये। पुराना अस्थिकलश रामचन्द्र को दे दिया गया, जो बिना कोई सन्देह किये उसे अपने घर ले गये और वहाँ से २३ अगस्त को जुलूस के साथ काँकुड़गाछी ले गये। उसमें युवा संन्यासियों ने भी उत्साहपूर्वक भाग लिया। शशि कलश को अपने सिर पर रखे हुए थे। वह श्रीकृष्ण जन्माष्टमी का दिन था और उस पावन अवसर पर कलश को वहाँ स्थापित किया गया। काफी दिनों बाद जब उस स्थान पर एक मन्दिर बनवाने का प्रस्ताव पारित हुआ, तो सभी भक्तों ने लिखित रूप में शपथ ली कि भविष्य में भस्मी को अन्यत्र नहीं ले जाया जाएगा। अतः मन्दिर निर्मित हुआ और वह स्थान पूजागृह में बदल गया।

इस बीच काशीपुर का अंकुरित होता मठ शैशवावस्था में ही उजड़ गया। माँ सारदा ३० अगस्त को वृन्दावन रवाना होने से पूर्व २१ अगस्त को बलराम बोस के घर चली गयीं। उनके साथ योगीन्द्र, काली, लाटू तथा ठाकुर की कुछ भक्त शिष्याएँ भी गयीं। तारक ने भी उनका अनुगमन किया। राखाल बलराम के घर चले गये तथा अन्य लोग इच्छा न होते हुए भी घर लौट गये।

ठाकुर तो अब भौतिक शरीर में इस संसार में नहीं थे। उनकी संन्यासी संघ की योजना शुरू में ही आपाततः ध्वस्त हो गयी तथा युवक उत्तर भारत के

विभिन्न स्थानों में बिखर गये। जहाँ तक उनके संगठित मठ-जीवन का सवाल था, भविष्य अन्धकारमय था। पर सूक्ष्म स्तर पर अदृश्य हाथ काम कर रहे थे। एक शाम जब सुरेन्द्रनाथ मित्र अपने पूजाघर में बैठे थे, श्रीरामकृष्ण उनके सामने प्रकट हुए और बोले, "क्या कर रहे हो? मेरे बच्चे निराश्रित होकर घूम रहे हैं। पहले उसकी व्यवस्था करो।" इसने सुरेन्द्र को उत्तेजित कर दिया, वे तुरन्त नरेन्द्र के घर गये, जो समीप ही था, और बोले, "भाई, ऐसा कोई स्थान देखो, जहाँ ठाकुर का चित्र, उनकी भस्मी और उनके दैनिक उपयोग की चीजें रखी जा सकें तथा उनकी उपासना नियमित रूप से हो सके एवं जहाँ तुम-जैसे सर्वत्यागी भक्त एकसाथ प्रेमपूर्वक रह सकें। हम लोग वहाँ बीच-बीच में आध्यात्मिक प्रेरणा पाने आया करेंगे।" कहना न होगा, नरेन्द्र यह विचार सुन उछल पड़े। वे तुरत एक घर की तलाश में चल पड़े तथा वृन्दावन में तारक को पत्र लिखा कि सूचना पाते ही लौट आने के लिए वे तत्पर रहें। तारक ने नेता की आज्ञा का पालन किया तथा वाराणसी आकर अगले निर्देश की प्रतीक्षा करने लगे। नरेन्द्र ने कलकत्ता के मुहल्लों को छान डाला कि आसान शर्त पर कोई मकान मिल जाय, क्योंकि उनके पास उतना धन नहीं था। सुरेन्द्र ने वादा किया था कि काशीपुर में वे हर महीने जितना पैसा देते थे उतना ही यहाँ भी देंगे। इसका मतलब सौ रुपये मासिक की सहायता का भरोसा किया जा सकता था। इस अल्प राशि पर निर्भर करते हुए नरेन्द्र ने गंगातट पर, काशीपुर से थोड़ी दूर वराहनगर मुहल्ले में एक

टूटे-फूटे मकान का चयन किया, जो कभी टाकी के मुंशियों का मकान था। मासिक किराया ग्यारह रुपये निश्चित हुआ, छः रुपये मासिक रसोइया को देना पड़ता था तथा शेष राशि बहुत ही साधारण भोजन और कपड़े पर खर्च होती थी। सुरेन्द्र ने कुछ महीनों तक ३०) मासिक सहायता दी, परन्तु ज्यों-ज्यों रहने-वालों की संख्या बढ़ती गयी, उन्होंने उसे दुगुनी और फिर तिगुनी बढ़ा दिया और अन्त में १००) मासिक देने लगे।

घर ले लेने पर छोटे गोपाल ठाकुर द्वारा प्रयुक्त बिस्तर और अन्य चीजें वहाँ ले आये। वह सितम्बर १८८६ का उत्तरार्ध रहा होगा। काशीपुर में कार्यरत भूतपूर्व ब्राह्मण रसोइये ने यहाँ भी काम करना शुरू किया। शरत् वहाँ रात बिताने लगे और चूंकि उन्होंने अभी तक घर नहीं छोड़ा था तथा मेडिकल कालेज की पढ़ाई भी नहीं छोड़ी थी, इसलिए वे वहाँ के स्थायी सदस्य नहीं हो सकते थे। बूढ़े गोपाल विधुर थे, वे ठाकुर के संन्यासी शिष्यों में ज्येष्ठ थे, उनके पास अपना कहने का कोई घर नहीं था और वे त्याग की अग्नि से पहले से ही जल रहे थे। अतः लगता है कि नये मठ के शुरू होते ही उन्हें उसका प्रथम स्थायी सदस्य होने का गौरव प्राप्त हुआ। इसी बीच तारक को वाराणसी से बुला लिया गया। वे अविलम्ब लौट आये। ठाकुर के दक्षिणेश्वर में रहते समय ही उनकी पत्नी निःसन्तान दिवंगत हो चुकी थी। अतः दुनियादारी से मुक्त हो उन्होंने ठाकुर की अनुमति से तथा पिता का आशीर्वाद लेकर घर छोड़ दिया था। संन्यासी जीवन ग्रहण करने

के बाद वे कलकत्ता में रामचन्द्र के घर रहने लगे और बाद में काँकुड़गाछी उद्यान में आ गये। इस प्रकार वे भी मठ के प्राचीनतम सदस्यों में से एक होने के गौरव के अधिकारी थे। फिर वे अन्य संन्यासियों से आयु में भी बड़े थे, बूढ़े गोपाल को छोड़कर। उनमें से किसी ने भी घर की गिरी हालत या रहने के निम्न स्तर का बुरा नहीं माना। श्रीरामकृष्ण के प्रथम मठ का आरम्भ उन लोगों के जीवन में एक ऐसी युगान्तरकारी घटना थी कि किसी का ध्यान उन तुच्छ बातों की ओर नहीं गया। और कैसा मकान था वह! स्वामी विरजानन्द जो वहाँ १८९१ ई० के लगभग आये, अपने संस्मरण में लिखते हैं—"वराहनगर के प्रामाणिक घाट मार्ग पर टाकी के मुंशियों का जो भग्न और परित्यक्त मन्दिर-परिसर था, उसके पीछे की (यानी पश्चिमी) ओर दुमंजिले में मठ स्थित था। यदि कोई सड़क की ओर के दरवाजे से प्रवेश करता और एक छोटे से खुले दालान को पार करता, तो उसे एक जीना मिलता, जो ऊपर बरामदे में ले जाता, जिसमें खम्भे और लकड़ी के रेलिंग मिलते। उसके दाहिनी ओर सामने के हिस्से में एक बड़ा-सा कमरा था, जो मैं जब आया तब लीज पर था और हरदम खाली ही पड़ा रहा। उसका भीतरी हिस्सा मठ द्वारा उपयोग में लाया जाता था। उसे बाहर से नहीं देखा जा सकता था, वह एकदम निर्जन था। अब वह मकान नहीं है।...उसके पीछे एक बाड़ी थी, (एक तलैया थी) तथा सहजन, बेल और आम के एक-एक पेड़ थे एवं नारियल के कुछ वृक्ष थे। बाड़ी में कोई विशेष शाक-सब्जी नहीं थी।...भूतल

के भीतरी हिस्से में युगों की धूल जमी हुई थी और घास से ऐसी ढकी थी कि वह साँप और शृगालों का अड्डा बन गया था। कोई भी उस घर में नहीं जाता था। उसे सब लोग भुतहा कहते थे और कोई भी उसे किराये पर लेने के लिए तैयार नहीं था। ...ऐसी जनश्रुति थी कि प्राचीन समय में वहाँ कितनी ही हत्याएँ की गयी थीं। ...सीढ़ियों से चढ़ने पर बाँयीं ओर काली तपस्वी का कमरा था...। उसके बाद... एक कमरा और था, जहाँ उपासना की सामग्री तैयार की जाती थी। यहाँ से उपासनागृह को जाया जाता था। आगे बढ़ने पर...बाँयीं ओर एक हॉल था, उसे 'दानवों का कमरा' कहते थे। उसके बाद भोजन-कक्ष तथा स्नानागार थे।...हॉल की दीवारों पर कई देवी-देवताओं के चित्र लगे थे। उनमें कुछ अवतारों के भी थे। एक चित्र क्रूस पर चढ़े ईसा का भी था। ...हॉल के एक तरफ लकड़ी की चौकी के एक भाग में बंगाली, संस्कृत एवं अँगरेजी की कुछ पुस्तकें थीं; शेष भाग में संगीत के यंत्र थे तथा पास की दीवाल में एक तानपूरा टँगा था। इस हॉल का उपयोग मेहमानों के बैठने तथा संन्यासियों के सोने के लिए किया जाता था। वास्तव में यह एक बहुउद्देशीय हॉल था। बिस्तर के लिए कुछ चटाइयाँ थीं, जिन्हें पंक्तिवार बिछाया गया था; उन सभी पर छोटा-छोटा तकिया था। अतिथियों के लिए ऐसे ही कुछ बिस्तर दूसरी जगह बिछाये गये थे। सब लोग फर्श पर बैठते। उपासना-कक्ष के बीच में एक बिस्तर पर, जो फर्श पर चटाई, गद्दा और तकियों से बनाया गया था, ठाकुर का चित्र रखा गया

था। इस शय्या के पैताने पर एक छोटे स्टूल पर ठाकुर का अस्थि-कलश और जूते रखे थे, जिसके सामने शशि महाराज रोज पूजा किया करते।"

'श्रीरामकृष्णवचनामृत' उस भग्न मकान का और एक चित्र प्रस्तुत करता है, जिसको देखा जा सकता है। सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक जीवन के बारे में लेखक संक्षेप में कहता है—"नरेन्द्र और मठ के दूसरे सदस्य बहुधा शाम इस छत पर व्यतीत करते थे। वहाँ वे अधिक समय श्रीरामकृष्ण, शंकराचार्य, रामानुज और ईसामसीह के उपदेशों की तथा हिन्दू दर्शन, पाश्चात्य दर्शन, वेद, पुराण एवं तंत्रों की शिक्षा की चर्चा में लगाते थे। नरेन्द्र की आवाज सुन्दर थी, वे दानवों के उस कक्ष में गीत गाया करते तथा शरत् आदि को संगीत सिखाते। काली वाद्य-यंत्रों की शिक्षा ग्रहण करते। उस हॉल में वे लोग एक साथ नृत्य, गीत आदि में घण्टे पर घण्टे आनन्दपूर्वक बिता देते।" ये पंक्तियाँ ७ मई १८८७ को लिखी गयी थीं। मध्य के महीनों के बारे में वर्णन रना अभी शेष है।

एक अर्थ में रामकृष्ण मठ बंगाल के लिए एक विचित्र नवाचार था। बंगाल ने वैष्णव संन्यासी और संन्यासिनियाँ तो देखे थे, जो प्रायः अशिक्षित थे तथा समाज से दूर भीख माँगकर रहते थे अथवा मन्दिरों से सम्बद्ध मठों में रहकर निवेदित अन्न का अपना भाग प्राप्त किया करते थे; बंगाल ने उत्तर भारत के दूसरे सम्प्रदाय के उन संन्यासियों को भी देखा था, जो उसकी सड़कों पर से होकर गंगासागर, पुरी और अन्य स्थानों की यात्रा पर जाया करते थे; पर उसने अब तक

सुसंस्कृत एवं कुलीन परिवारों के शिक्षित तरुणों को, अद्वैतवाद को अपना जीवन-दर्शन बना पर व्यवहार में भक्ति, ध्यान एवं अन्य साधनाओं को अंगीकार करके एक भग्न मकान में एक साथ रहते हुए नहीं देखा था। फिर, श्रीरामकृष्ण के रूप में एक नया अवतार खड़ा करने का न तो कोई तुक था, न तर्क। क्या इतनी संख्या में सुपरिचित अवतार उतने अच्छे नहीं थे कि व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार अपने लिए उनमें से एक चुन लेता ? फिर इन तरुणों के बारे में एक प्रकार का विजातीय भाव था। वैष्णव संन्यासी छोटे सफेद कपड़े पहनते थे। उत्तर के नागा लोग जटा रखते थे और प्रायः नंगे रहते थे तथा किसी आश्रय की परवाह नहीं करते थे। परन्तु ये लड़के लोग तो साधारण संन्यासियों की तुलना में पूरी चौड़ाई का गेरुआ कपड़ा पहनते थे तथा गन्दगी और धूल के बीच रहने के बावजूद ऐश्वर्य में रहते प्रतीत होते थे। फिर, अतीत से सम्बन्ध तोड़ देने के लिए पारिवारिक नाम को बदल देना सामाजिक दृष्टि से आपत्तिजनक था। कुल मिलाकर नया अभियान एक पागलपन-सा लगता था तथा साधारण जनता की पहुँच से बाहर था। इतनी अज्ञानजन्य बेरुखी और पूर्वग्रह के बीच मठ और बैरागी जीवन की स्थापना करना साधारण कार्य नहीं था। इन सबके साथ ही प्रत्येक युवक को अपने घर की कुछ विशिष्ट कठिनाइयाँ थीं, जिनके साथ संघर्ष करके उसे मुक्त होना था, जिससे वह वराहनगर मठ का सदस्य बन सके।

नरेन्द्र की समस्या भयानक थी। वे द्विविधा में

पड़े थे——मानो खाई और खन्दक के बीच में थे। संन्यासियों का अगुआ होने के कारण यह आवश्यक था कि बिना हिचक के वे घर का त्याग कर दें। परन्तु चाहकर भी वे वैसा नहीं कर सकते थे। फिर ठाकुर ने उनके ऊपर यह भार भी सौंपा था कि वे संन्यासियों के इस भ्रातृसंघ का गठन करें। परन्तु वे तत्काल अपने भूखे परिवार और कानूनी अड़चनों को एक ओर फेंककर अपने को मुक्त नहीं कर सकते थे। ये कानूनी अड़चनें ठाकुर के रहते ही उनके जीवन में आयी थीं। इस सबके बावजूद उन्होंने दोनों कर्तव्यों को दृढ़-संकल्प के साथ अपनाया। धीरे-धीरे परन्तु निश्चित रूप से उन्होंने अपना ध्यान अधिकाधिक मात्रा में मठ की ओर लगाया। कलकत्ता तभी जाते थे, जब उनकी जरूरत होती थी तथा दिन का शेष समय और अनिवार्यतः रात का वक्त वे मठ में बिताते थे।

धीरे-धीरे मठ के निवासियों की संख्या बढ़ने लगी। तारक और बूढ़े गोपाल तो थे ही। काली, जो ऐसे जीवन की इच्छा करते थे, वृन्दावन से एक माह में लौट आये तथा मठ में स्थायी रूप से रहने लगे। शशि कुछ हिचकिचाहटपूर्वक, कुछ बार मठ में आने के बाद, फिर स्थायी रूप से मठ में आ गये। राखाल और अन्य युवक मठ की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होने लगे और इन युवा शिष्यों के आँटपुर में (१८८६ के बड़े दिन पर) मिलन ने तराजू का पलड़ा मठ के पक्ष में भारी कर दिया। इसके पूर्व नरेन्द्र, तारक, बूढ़े गोपाल, काली और शशि मठ के स्थायी सदस्य बन चुके थे। हरीश सबसे पहले आया था, लेकिन शीघ्र ही उसने आश्रम

छोड़ दिया, क्योंकि उसकी पत्नी ने उसका प्रस्तावित संन्यास-जीवन असम्भव बना दिया। छोटा गोपाल भी घर लौट गया। और अब केवल आधा दर्जन से भी कम सर्वत्यागी उत्साही युवकों को ले मठ ने इतिहास की रचना करते हुए अपना काम शुरू किया। प्रत्येक सदस्य अपने जीवन को अनवरत साधना में बदलते हुए उस आनन्द की अनुभूति में लग गया, जिसके बारे में उसने सुना था और जिसे इतनी मात्रा में ठाकुर के जीवन में देखा था, तथा जिसका कुछ न कुछ अनुभव वह काशीपुर और दक्षिणेश्वर में कर चुका था।

जब प्रत्येक नौजवान हृदय में वे स्मृतियाँ ललक पैदा कर रही थीं, ऐसे समय बाबूराम को अपनी माँ का सन्देश मिला कि वह अपने गाँव आँटपुर आ जाय। यह गाँव हुगली जिले में कलकत्ता से ३८ कि.मी. दूर स्थित है। बाबूराम की माता ठाकुर की कट्टर भक्त थीं और चाहती थीं कि बाबूराम नरेन्द्र को साथ लेकर आवे। परन्तु समाचार पाते ही पूरा दल, जिसमें नरेन्द्र, बाबूराम, शरत्, शशि, तारक, काली, निरंजन, गंगाधर और शारदाप्रसन्न थे, वहाँ जाने के लिए तैयार हो गया। यह दल दिसम्बर के शेष भाग में एक सुबह कलकत्ते में बलराम बोस के घर से आँटपुर के लिए निकल पड़ा। उनके साथ वाद्ययन्त्र भी थे। उन्होंने नरेन्द्र के नेतृत्व में रेल में बैठे-बैठे वाद्ययन्त्र बजाते हुए भजन गाये और इस प्रकार रेलयात्रा के कुछ घण्टे बड़े ही आनन्द में बिताते हुए आँटपुर पहुँचे। वहाँ रहते समय वे तीव्र साधना में तल्लीन हो गये। उनको प्रेरणा देने के लिए विपुल उत्साही नरेन्द्र थे। उन्होंने कहा—

"तुम लोग तनिक भी समय नष्ट न करो, बल्कि उसे भजन, अध्ययन, ध्यान, प्रार्थना, चर्चा और विवेचन में लगाओ।" अनुकूल वातावरण निर्मित करने के लिए बाबूराम का सारा परिवार, जो ठाकुर का परम भक्त था, वहाँ मौजूद था। ठाकुर की दृष्टि में बाबूराम भक्तों की सर्वोच्च श्रेणी में—ईश्वर-कोटि में—आते थे। इस कोटि में नरेन्द्र, राखाल, योगीन्द्र, निरंजन तथा पूर्ण भी आते थे। इसके अतिरिक्त, ठाकुर के दिव्य दर्शन के अनुसार, बाबूराम में जगन्माता का कुछ अंश था। वे एकदम पवित्र थे, यहाँ तक कि उनकी हड्डियाँ तक पवित्र थीं। उनकी बहन, बलराम बोस की पत्नी, भी समान रूप से दैवी अंश से युक्त थीं। उनकी माता, मातंगिनी देवी, ठाकुर से कई बार मिली थीं। ठाकुर उन्हें भी आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत ऊँचा मानते थे। परिवार के दूसरे सदस्य भी उच्चकोटि की आध्यात्मिकता से युक्त थे। इन युवा साधकों को अपने स्वाभाविक धार्मिक उत्साह और निष्ठा की पृष्ठभूमि तो मिली ही थी, पर इसके साथ ही उन्हें लाभकारी ग्राम्य शान्त वातावरण भी मिला था। फलस्वरूप नरेन्द्र के नेतृत्व में उनके हृदय का आध्यात्मिक उन्माद चरम बिन्दु तक पहुँच गया। विशेषकर नरेन्द्र अपने भावी वैराग्ययुक्त जीवन की कल्पना से इतने मुग्ध और विह्वल हो गये थे कि वे बोल उठते—"हमारे जीवन का उद्देश्य मनुष्य का निर्माण करना बने। आओ, उसे ही हम अपने जीवन की साधना मानें। व्यर्थ की विद्या दूर हो! संसार का जादू हमारे मन को एक क्षण के लिए भी गुलाम न बनाए! ईश्वर की अनुभूति ही

जीवन में सर्वोत्तम उपलब्धि है। ठाकुर के जीवन ने हमारे समक्ष यही रखा। हमें ईश्वर का साक्षात्कार कर ही लेना है।" वे लोग ठाकुर की बातें करते और ठाकुर के विचार ही उन लोगों के मन में सर्वोपरि थे। पूरा स्थान त्याग के भाव से भर गया। स्वाभाविक रूप से भ्रातृत्व का बन्धन यहीं पर अटूट बना। यह एक ऐसा ठोस मेल था, जो किसी के ध्यान से नहीं बच सकता था। प्रत्येक व्यक्ति पर उसका प्रभाव पड़ा। फिर, यह बात अन्यथा हो भी नहीं सकती थी, क्योंकि ठाकुर जिन्होंने सबको दक्षिणेश्वर, श्यामपुकुर और काशीपुर में जोड़ा था, अब भी जीवन्त सत्ता थे, जो उन लोगों के माध्यम से काम कर रही थी। जो श्रीरामकृष्ण के रूप में रक्त और मांस से युक्त होकर जीवित रहे, वे ही अब अपने को अपने मठ में फिर से अवतरित करनेवाले थे।

इस सबने ठोस रूप एक रात्रि को लिया। घर के अहाते में खुले आकाश के नीचे लकड़ी के बड़े-बड़े लट्ठों को जलाकर धूनी प्रज्वलित की गयी। रात्रि के प्रथम प्रहर में ये युवक साधक ताराखचित आकाश के वितान के नीचे अकथनीय शान्तिमय वातावरण में प्रार्थना-भरा हृदय ले उस धूनी के पास एकत्र हुए। ध्यान देर तक चला। तत्पश्चात् नरेन्द्र ईसा के जीवन-वृत्तान्त का वर्णन करने लगे। उन्होंने हर मोड़ पर ईसा के त्यागमय जीवन पर बल देते हुए उसका आद्योपान्त चित्रण किया। फिर गुरुभाइयों को ईसा के शिष्यों का परिचय कराया गया और यह बताया गया कि कैसे प्रायश्चित्त द्वारा पाप से मुक्त होने का उदात्त सन्देश सेण्ट पाल

आदि द्वारा पृथ्वी के कोने-कोने तक ले जाया गया। और अनुप्राणित आवाज में नरेन्द्र ने उनका आह्वान करते हुए कहा—"आओ, तुम लोग भी मानव-जाति की मुक्ति और उसके उन्नयन के लिए इस नये सन्देश को विदेशों में ले जाने हेतु दूत बन जाओ।" अन्त में वे एक साथ उठे और त्यागमय जीवन का उन्होंने व्रत लिया। साक्षी के रूप में सामने धधकती धूनी थी और ऊपर चमकते हुए तारे। पूरा वातावरण आध्यात्मिकता से भर उठा और इस सबके अन्त में उन्होंने विस्मय-पूर्वक स्मरण किया कि वह ईसा के अवतरण की सन्ध्या थी।

ठाकुर की महासमाधि के पश्चात् उनके युवा शिष्यों में से प्रत्येक जो त्याग का बारूद बन गया था, उसे फोड़ने के लिए आँटपुर ने आवश्यक चिनगारी मुहैया की। शेष कुछ लोग अब धीरे-धीरे एक-एक करके मठ में आने लगे। नवागतों में राखाल, निरंजन, बाबूराम, शरत्, हरि, शारदा और सुबोध थे। लाटू भी छः महीने वृन्दावन रहकर और वहाँ से लौटकर मठ में सम्मिलित हो गये। योगीन और भी छः माह तक श्री माँ के साथ वहीं रहे, और कलकत्ता वापस आने पर वे भी मठ में आ गये। परन्तु परिवार से सम्बन्ध-विच्छेद करना उतना आसान नहीं है। नरेन्द्र की समस्या हम पहले ही बता चुके हैं। उसकी प्रतिक्रिया उस युवा भ्रातृसंघ पर हुई। शारदा ने शिकायत की कि नेता का पारिवारिक कार्यों में व्यस्त रहना उसके अपने विश्वास को डगमगाये दे रहा है। परन्तु नरेन्द्र स्वयं इतने

सावधान थे कि वे दूसरों को अपनी निजी समस्याओं से प्रभावित होने नहीं देना चाहते थे। उदाहरणार्थ, जब एक दिन काली ने एक मुकदमे का परिणाम पूछा, तो नरेन्द्र ने रूखा उत्तर दिया, "तुम्हें उसकी चिन्ता क्यों है?" वे जानते थे कि उनके जीवन के दो पक्षों में कभी समझौता नहीं हो सकता था, पर संघर्ष को सहना तो था ही। वे उसकी रगड़ का अनुभव कर रहे थे।

ठाकुर की अन्तिम रुग्णावस्था में शशि की मन-प्राण से सेवा सुविज्ञात थी। एक बार मठ में रहने का निर्णय कर लेने के बाद उन्होंने ठाकुर की नित्य सेवा को अपना एकमात्र कर्तव्य मान लिया और उसमें अपनी पूरी भक्ति और श्रद्धा उँड़ेल दी। परन्तु वे ऐसे मध्य-वृत्त परिवार के थे, जो उनसे बहुत-सी अपेक्षाएँ रखता था। वे जानते थे कि ऐसी अपेक्षा अस्वाभाविक नहीं है। फिर, श्रीरामकृष्ण के शिष्यगण हृदयहीन नहीं थे। यद्यपि वे बाह्यत: वज्र से भी कठोर लगते थे, परन्तु अन्दर से पुष्प से भी कोमल थे। शशि अपने माता-पिता को प्यार करते थे और उनकी दशा सुधारने की वे इच्छा रखते थे; परन्तु ईश्वर का प्रेम अधिक शक्ति-शाली सिद्ध हुआ और उसने अन्य सारे विचारों को बहा दिया। फिर भी उनके हृदय का द्वन्द्व कुछ काल तक बना रहा। जब उनके पिता उन्हें घर वापस ले जाने मठ में आते, तो यह द्वन्द्व और भी तीव्र हो जाता। जो हो, उन्होंने अन्तिम रूप से निश्चय कर लिया कि घर लौट जाना उनके लिए असम्भव है, क्योंकि ठाकुर ने उनसे 'कामिनी और कांचन' का त्याग करने के

लिए कहा था।

युवा साधकों को, कम से कम ऊपर से ही सही, अपने अभिभावकों के प्रति कठोर रुख अपनाने को बाध्य होना पड़ता था, विशेषकर तब जब अभिभावकों का उन्हें घर लौटा ले जाने का प्रयास सीमा को लाँघ जाता था। उदाहरणार्थ, राखाल ने ऐसी ही परिस्थितियों में अपने पिता से कहा, "आप यहाँ आने का कष्ट क्यों उठाते हैं? मैं यहाँ बिलकुल प्रसन्न हूँ। अब मुझे आशीष दीजिए कि मैं आपको भूल जाऊँ और आप मुझे।"

शरत् की समस्या दूसरे किस्म की थी। वे मेडिकल कालेज में पढ़ रहे थे। उनके पिता के पास पढ़ाने का खर्च देने की क्षमता थी और वे अपने बेटे को अपने से अलग होने देना नहीं चाहते थे। परन्तु नरेन्द्र और काली उन` पढ़ते समय मिला करते और उनसे घण्टों बातें करते, जिससे घर का प्रभाव उन पर शिथिल हो जाय। तब शरत् ने मठ आना-जाना शुरू कर दिया, कभी-कभी वे रातें भी वहीं बिताते। इससे उनके पिता नाराज हुए। पहले तो उन्होंने समझाया, पर बाद में समझाना व्यर्थ देख उन्हें एक कमरे में बन्द कर दिया। पर शरत् को अधिक दिन तक इस प्रकार कैद में नहीं रहना पड़ा, उनके छोटे भाई ने ताला खोल उन्हें मुक्त कर दिया और वे हरदम के लिए घर छोड़कर मठ में रहने चले आये। प्रारम्भ में उनके मन में जो भी अस्थिरता रही हो, पर आँटपुर में उठायी गयी त्याग की लहर उस सबको अन्त में बहाकर ले गयी।

ठाकुर के महाप्रयाण के तुरत बाद हरिनाथ के मन

में त्याग की हलचल शुरू हुई। एक बार वे परिवार-वालों को बिना बताये ही कामाख्या और शिलाँग की यात्रा कर आये। आँटपुर की यात्रा के बाद वे बहुत दिनों तक घर पर नहीं रहे। गंगाधर ने फरवरी १८८७ में घर सदा के लिए छोड़ दिया और कुछ वर्ष तिब्बत में बिताकर वे १८९० के मध्य में वराहनगर के मठ में आये। शारदा ने काशीपुर में ठाकुर की बीमारी के समय एक बार घर छोड़ दिया था। वराहनगर ने उनके त्याग की स्वाभाविक रुझान को अब पूरा अवसर दिया। इस दल में एक और उत्साही युवक तुलसी आये, जो ठाकुर से कई बार मिल चुके थे, परन्तु उनसे इतना घनिष्ठ नहीं हो पाये थे कि उन्हें उनका शिष्य होने का सौभाग्य प्राप्त होता। एक समय उन्हें गर्व था कि वे स्वामी विवेकानन्द के प्रथम शिष्य हैं और स्वामीजी के गुरुभाई भी उन्हें उसी दृष्टि से देखते थे; परन्तु बाद में वे कहने लगे कि वे ठाकुर के शिष्य हैं। जो हो, वे उन लोगों में अन्तिम और एक थे, जिन्होंने ठाकुर को देखा था और जिन्हें संघ का प्रथम संन्यासी-दल होने का गौरव प्राप्त था। सूची को पूरा करने के लिए हमें अब केवल एक शिष्य, हरिप्रसन्न, का और उल्लेख करना है, जिन्होंने काफी देर से—स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से लौटने के बाद—संघ में पदार्पण किया।

०

वराहनगर मठ

(जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, इस वर्ष वराहनगर मठ की भी शताब्दी मनायी जा रही है। इस विशेष उपलक्ष में यह लेख प्रकाशित किया जा रहा है, जो अद्वैत आश्रम, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित The Life of Swami Vivekananda, by His Eastern and Western Disciples' से साभार गृहीत और अनूदित हुआ है।—स०)

...वराहनगर में मठ १८८६ से १८९२ तक था। १८९२ से १८९७ तक वह दक्षिणेश्वर के निकट आलमबाजार में रहा। वहाँ से वह बेलुड़ ग्राम में नीलाम्बर मुखर्जी के उद्यान-भवन में चला गया, जहाँ १८९८ तक रहा। यह उद्यान-भवन गंगा के पश्चिमी किनारे पर और काशीपुर, जो कि गंगा के बाँयें किनारे है, के ठीक सामने है। वहाँ से मठ लगभग ४०० मीटर उत्तर की ओर अपनी वर्तमान जगह पर चला गया, जहाँ दिसम्बर १८९८ में बेलुड़ मठ की प्रतिष्ठा हुई। गंगा के पश्चिमी तट पर अवस्थित बेलुड़ मठ का यह विस्तीर्ण भूमिखण्ड स्वामी विवेकानन्द के द्वारा ही खरीदा गया था और वे ही श्रीरामकृष्णदेव के अस्थि-कलश को अपने सिर पर रखकर यहाँ ले आये थे एवं उसकी प्रतिष्ठा की थी।

लगता था कि वराहनगर मठ के पूजागृह में ठाकुर जीवन्त हैं, अपनी सन्तानों पर कृपा करने के लिए सर्वदा प्रस्तुत हैं। उनकी नित्य पूजा होती थी तथा उनके सामने हृदय को मथ देनेवाले भजन गाये जाते थे। पूजा आनुष्ठानिक रूप से होती, मंत्रों का उच्चारण किया जाता, आरती की जाती, धूना जलाया जाता,

शंख फूँके जाते तथा घड़ियाल बजाये जाते, जिससे आनन्द का वातावरण छा जाता। पुष्प और शुद्ध नैवेद्य चढ़ाये जाते। सन्ध्या के समय संन्यासी समवेत स्वर में प्रार्थना और स्तुति गाते। चूँकि महायोगी शिव उन लोगों के एक आदर्श थे, वे श्रीरामकृष्ण के चित्र के सामने प्रेरक स्तुति गाते, जो वाराणसी के विश्वनाथ मन्दिर में गायी जानेवाली स्तुति के आधार पर बनायी गयी थी और जिसके बोल निम्नलिखित थे—

जय शिव ओंकारा ! भज शिव ओंकारा !
ब्रह्मा, विष्णु, सदाशिव !
हर, हर, हर, महादेव !

जनवरी १८८७ में एक दिन नरेन्द्रनाथ ने अपने गुरुभाइयों से संन्यास की शास्त्रीय और औपचारिक विधि अपनाने के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया। उन सभी ने सहर्ष इसकी स्वीकृति दी। काली ने पहले से ही 'पुरी' योगपट्ट के एक संन्यासी से विरजा होम तथा संन्यास से सम्बन्धित अन्य सब बातों की जानकारी ले रखी थी। वे औपचारिक रूप से जो संन्यास लेना चाहते थे, उसमें उन्हें ठाकुर की ही कृपा तथा उनकी इच्छा का मंगल संकेत दीख पड़ा। जनवरी के तीसरे सप्ताह का एक दिन निश्चित किया गया। उस दिन ब्राह्म-मुहूर्त में युवा साधकगण गंगा में स्नान करके आये और मठ के पूजागृह में इकट्ठा हुए, जहाँ ठाकुर के फोटो और भस्मी की नित्यपूजा की जाती थी। शशि ने नित्य के अनुसार ठाकुर की पूजा की और तदनन्तर विरजा होम किया गया। नरेन्द्र ने काली से उस अवसर पर उचित मंत्रों का उच्चारण करने के लिए कहा। मंत्रपाठ के

बीच वे लोग एक-एक करके अग्नि में आहुति डालने लगे। सबसे पहले नरेन्द्रनाथ न और फिर राखाल, निरंजन, शरत्, शशि, शारदा एवं दूसरों ने मंत्रपाठ किया और आहुतियाँ दीं। बाद में काली ने उसी प्रकार किया। श्रीरामकृष्ण ने पहले ही, काशीपुर में, उन्हें गेरुआ कपड़े देकर संन्यासी बना दिया था। आज का यह समारोह उसी की पुष्टि में किया गया एक आनुष्ठानिक और परम्परागत उपचार था। सम्भवतः इस अवसर पर बाबूराम भी इस प्रक्रिया में से होकर गये।

तत्पश्चात् नरेन्द्र ने राखाल, बाबूराम, शशि, शरत्, निरंजन, काली और शारदा को क्रमशः स्वामी ब्रह्मानन्द, प्रेमानन्द, रामकृष्णानन्द, सारदानन्द, निरंजनानन्द, अभेदानन्द और त्रिगुणातीतानन्द (या त्रिगुणातीत) का नाम दिया। तारक और बूढ़े गोपाल इस अनुष्ठान में से कुछ दिन बाद गुजरे और उन्हें स्वामी शिवानन्द एवं अद्वैतानन्द का नाम मिला। शिवरात्रि के दिन (२१ फरवरी १८८७ को) महेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द के अनुज) ने उन सबको संन्यासी के रूप में देखा। लाटू और योगीन (जोगीन्द्र) ने वृन्दावन से लौटने पर अलग-अलग समय में यह अनुष्ठान किया। उनका नाम स्वामी अद्भुतानन्द और योगानन्द पड़ा। हरि ने १८८७ में किसी समय संन्यास-दीक्षा ली और स्वामी तुरीयानन्द के नाम से परिचित हुए। गंगाधर ने तिब्बत से लौटने के बाद जुलाई १८९० के प्रथम सप्ताह में संन्यास लिया और स्वामी अखण्डानन्द कहलाये। यह पता नहीं कि सुबोध संन्यास-व्रत में कब दीक्षित हुए, पर उनका नाम स्वामी सुबोधानन्द हुआ।

नरेन्द्रनाथ स्वयं अपने लिए रामकृष्णानन्द नाम लेना चाहते थे, पर श्रीरामकृष्ण के प्रति शशि की भक्ति को देख उन्होंने उन्हें वह नाम दे दिया। स्वामी अभेदानन्द के मतानुसार, नरेन्द्र ने अपना नाम विविदिषानन्द रखा था, पर वे क्वचित् ही उसका उपयोग करते थे। अपने परिव्रजन-काल में उन्होंने दो बार अपना नाम बदला था—पहले तो विवेकानन्द का नाम लेकर (फरवरी १८९१–अक्तूबर १८९२) और फिर सच्चिदानन्द का नाम लेकर (अक्तूबर १८९२–मई १८९३)। यह उन्होंने इसलिए किया, जिससे उनके गुरुभाई उनका पता लगाकर उनका पीछा न कर सकें। परन्तु मई १८९३ में पश्चिम के लिए प्रस्थान करने से पूर्व उन्होंने पुनः सम्भवतः खेतड़ी-नरश के अनुरोध पर विवेकानन्द नाम धारण किया।

भले ही इन तरुणों ने संन्यास ले लिया था, पर वे गेरुआ कपड़ा मठ में रहते समय ही पहनते। बाहर जाते समय सादे वस्त्र धारण करते। फिर प्रारम्भ के उन दिनों में वे अपने संन्यास नाम का उपयोग नहीं करते थे। इसका सम्भवतः यह कारण रहा हो कि उन दिनों बंगाल में संन्यास को अच्छी निगाहों से नहीं देखा जाता था। फिर, श्री शंकराचार्य ने जिस दशनामी संन्यामी की परम्परा को जन्म दिया, वह तब बंगाल में प्रचलित नहीं थी। नरेन्द्रनाथ के सन्दर्भ में एक अतिरिक्त कारण यह था कि उन्हें अदालत में मुकदमे के लिए जाना पड़ता था। जो हो, पर भीतर से तथा अन्य सारे व्यवहार की दृष्टि से वे लोग सच्चे संन्यासी थे।

शिष्य नरेन का विश्वविख्यात स्वामी विवेकानन्द

के रूप में परिवर्तन किसी सुगम प्रक्रिया के माध्यम से साधित नहीं हुआ। उन्हें अनाहार का सामना करना पड़ा था, बहुत प्रकार के भौतिक और मानसिक कष्ट उठाने पड़े थे। श्रीरामकृष्ण के इस शिष्य का एक आध्यात्मिक दिग्गज विवेकानन्द के रूप में विकास कोई जादुई प्रक्रिया नहीं थी, वह तो शनैः शनैः चलनेवाली प्रक्रिया थी। उसकी गाथा तीव्र रूप से मानवी है और सत्य के सभी खोजियों के लिए बड़ी रुचिकर है।

अब से हम अपने को एक ऐसी दुनिया में पाते हैं, जहाँ हमारे विवेच्य महापुरुष (विवेकानन्द) की असीम ऊर्जा एक जबरदस्त इच्छाशक्ति के रूप में अभिव्यक्त है, जो उनके जीवन-कार्य को गढ़ती है और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुदूरप्रसारी आयाम प्रदान करती है। हमें एक ऐसे व्यक्तित्व के सम्पर्क में लाया जाता है, जो शौर्यवान् और अग्निखोर होते हुए भी मानवी है, जिसकी उपस्थिति मात्र ही जीवन-संघर्ष से परे महान् शान्ति की सूचना देती है। उनके जीवन में विनोद और मानवी संवेदना भी है, क्योंकि उन्होंने जीवन का उपभोग किया और हँसी-मसखरी उनके जीवन का अंग थी। हृदय से वे सर्वदा एक प्रकार से दक्षिणेश्वर के चपल नरेन ही बने रहे; पर किसी को पता नहीं था कि कब बौद्धिक या आध्यात्मिक ज्ञानालोक आ जाएगा—विनोद से आध्यात्मिक अनुभूति में अचानक संक्रमण साधित हो जाएगा। फिर भी वे सब समय एक संन्यासी, मसीहा और शिक्षक ही बने रहे। लगता था कि उनकी आत्मा निरन्तर ईश्वर के साथ है और उनका चिन्तन एवं प्यार सतत मानव की सेवा में केन्द्रित है।

वराहनगर मठ के जीवन में शशि ही ऐसे थे, जो निरन्तर ठाकुर की सेवा में रहते। अपनी गरीबी के द्वारा बाँधी गयी सीमा में रहकर वे कुछ पैसे खर्च कर शुद्धतम और रुचिकर नैवेद्य तैयार करते तथा ठाकुर को भौतिक रूप से विद्यमान समझकर उन्हें निवेदित करते। उन आनन्द-भरे दिनों की याद करते हुए कई वर्ष उपरान्त स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक शिष्य को लिखा था—"ठाकुर की महासमाधि के पश्चात् हम लोगों ने वराहनगर मठ में कठोर साधनाएँ कीं। हम लोग सुबह ३ बजे उठ जाते और हाथ-मुँह धो पूजाघर में जाकर जप-ध्यान में निमग्न हो जाते। कुछ तो सुबह ही स्नानादि भी कर लेते। उन दिनों हम लोगों के भीतर कैसा तीव्र वैराग्य था! हमें यह भान भी नहीं था कि बाह्य जगत् है भी या नहीं। शशि दिन और रात ठाकुर की पूजा-सेवा में लगे रहते और उनका मठ में वही स्थान था, जो परिवार में माँ का होता है। वे ही ठाकुर की पूजा में लगनेवाली तथा हम लोगों के जीवन-भरण के लिए वस्तुएँ अधिकांशतः भिक्षा के द्वारा एकत्र करते। ऐसे भी दिन बीते, जब जप-ध्यान का क्रम सुबह से लेकर ४-५ बजे शाम तक चलता रहता। शशि हमारा भोजन तैयार कर हम सबके लिए रुके रहते और हम लोगों को न आते देख आकर बलपूर्वक ध्यान से उठाकर ले जाते। अहा! हम लोग उनमें कैसी अविचल भक्ति देखते!"

इन तरुणों को भीषण निर्धनता का सामना करना पड़ा; पर उससे वे सिहरे नहीं। अपने गुरु के पदचिह्नों पर चलने की इच्छा उनमें इतनी बलवती थी कि नींद

भूलकर वे रात पर रात साधनाओं में बिता देते। भिक्षा करने की इच्छा न होने के कारण वे आकाशवृत्ति अवलम्बन करके रहते थे। वे घरेलू काम-काज—यहाँ तक कि निम्न समझे जानेवाले कार्य भी करने के लिए एक दूसरे से होड़ करते। ऐसे कई दिन आते, जब खाने के लिए कुछ न होता; पर आध्यात्मिक सम्भाषण, ध्यान और भजन इस प्रकार होते मानो उनके देह ही न हों। कौपीन और गेरुआ वस्त्र के कुछ टुकड़े—यही उनका परिधान था। फर्श पर चटाई ही उनके बिस्तर का काम देती। दीवालों पर उनकी जपमालाएँ और तानपूरा टँगा होता तथा देवी-देवताओं एवं सन्तों के कुछ चित्र झूलते होते। उनका पुस्तकालय सब मिलाकर लगभग सौ ग्रन्थों का रहा होगा। एक अधोवस्त्र तथा शरीर को ढाँकने के लिए एक चादर—यह सबकी साधारण सम्पत्ति थी। ये खूँटी में टँगे रहते तथा उसके काम आते, जो थोड़ा ठीक ढंग से पहनकर बाहर जाता। सुरेन्द्रनाथ मित्र (इस दल के लोगों के लिए सुरेश बाबू) उन लोगों की देखभाल करनेवाले देवदूत थे। वे संन्यासियों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते। पहले वे ३०) मासिक देते, पर उसे अपर्याप्त देख उन्होंने अपनी दानराशि १००) महीने तक बढ़ा दी। पर इससे भी सन्तुष्ट न हो वे गुप्तरूप से मठ का हाल-चाल लेते रहते और बहुधा अतिरिक्त राशि या जरूरी चीजें भेजकर उन लोगों की अतिशय दरिद्रता में कुछ राहत देने की चेष्टा करते।

पर कभी-कभी कुछ दूसरे प्रकार के मिलनेवाले भी वहाँ पहुँच जाते। वे थे उन तरुण संन्यासियों के

सम्बन्धीगण, जो वहाँ उनको वापस ले जाने की आशा सँजोकर आते। वे आकर अनुनय-विनय करते, रोते, धमकी देते; पर कोई फल न होता। संन्यासीगण अविचलित बने रहते। उनका त्याग पूरा और चूड़ान्त था। यहाँ तक कि अपनी जन्मदायिनी का ख्याल भी उन्हें ईश्वर-दर्शन के अपने निश्चय से डिगा नहीं पाता था। वे घर वापस जाना एकदम मना कर देते और मौन हो जाते। तब उनके आत्मीयजन कहते, "यह नरेन ही सारी आफत की जड़ है। लड़के लोग तो घर भी चले गये थे और अपनी पढ़ाई से लग गये थे, पर उसी ने आकर हमारी सारी योजनाओं पर पानी फेर दिया।"

यदि कोई गृहस्थ पूछता कि तुम लोग इस प्रकार जीवन बिताकर क्या पाना चाहते हो, तो नरेन्द्रनाथ कहते, "क्या! यदि हम ईश्वर को न भी देख पाएँ तो इसका यह मतलब नहीं कि इन्द्रिय-भोग का जीवन अपना लेंगे? क्या हम अपनी उच्चतर प्रकृति को गिरा लेंगे?" कभी-कभी नरेन चिल्ला उठते, "मेरे दर्शनों का क्या तुक है! मैंने मंत्रों को स्वर्णाक्षरों में और चमकते हुए देखा है! मैंने कई बार काली के रूप तथा सगुण ईश्वर के अन्य रूप देखे! पर कहाँ, शान्ति भला कहाँ है! मुझे सब कुछ से असन्तोष है। मेरे लिए सब कुछ, यहाँ तक कि भक्तों से बात करना भी अरुचिकर हो गया है। लगता है कि ईश्वर नाम की कोई चीज नहीं। यदि मैं सत्य का साक्षात्कार न कर सकूँ, तो मेरे लिए यही उचित है कि अनाहार मर जाऊँ।" क्या काशीपुर में मिली निर्विकल्प समाधि की स्मृति उनके असन्तोष

का कारण थी? क्या उन्होंने अरूप की तब अनुभूति नहीं की थी? आश्चर्य नहीं कि वे रूपों से असन्तुष्ट थे!

वराहनगर का उनका जीवन सचमुच में साधना और आध्यात्मिक उन्माद का जीवन था। बहुधा सुबह से संकीर्तन शुरू होता और शाम तक बिना भोजन या विश्राम के चलता रहता। ईश्वर-दर्शन की विकलता में प्रायोपवेशन की बात उनके लिए अचिन्तनीय नहीं थी।

उन दिनों का सबसे बढ़िया वर्णन नरेन्द्रनाथ के स्वयं के मुख से सुनें। बरसों बाद एक शिष्य ने उनसे बेलुड़ मठ में पूछा, "महाराज, उस समय आप लोग किस प्रकार रहते थे?" ज्योंही स्वामीजी का मन उन दिनों की स्मृति की ओर मुड़ा, उनके मुखमण्डल पर एक उदासीनता का भाव खेल उठा, जिस पर विजय का उल्लास भी झलक रहा था। सहसा वे शिष्य की ओर मुड़े और बोल उठे, "कैसा बचकाना प्रश्न है! देखते नहीं, हम लोग संन्यासी थे। हमने कभी कल की बात नहीं सोची। हम लोग अजगरवत्ति का अवलम्बन करके रहते। सुरेशबाबू और बलरामबाबू अब हमारे बीच नहीं हैं। यदि वे जीवित होते, तो इस मठ को देखकर खुशी से नाच उठते!" वे कहते चले, "मुझे विश्वास है तुमने अवश्य ही सुरेशबाबू का नाम सुना है। उन्हीं को इस मठ का उत्स जानो। उन्होंने ही वराहनगर मठ को स्थापित करने में सहायता दी। वे सुरेश मित्र ही थे, जो हमारी जरूरतें पूरी करते थे। भला कौन भक्ति और विश्वास में उनकी बराबरी कर सकता है?" अतीत की स्मृतियों में डूबे हुए वे आगे

बोले, "वराहनगर मठ में ऐसे भी दिन थे, जब खाने के लिए कुछ नहीं होता। यदि चावल होता, तो नमक न होता। ऐसा कई दिनों तक चला, पर किसी को परवाह न थी। महीनों हम लोग भात, नमक और कुँदरू के पत्तों को उबालकर गुजारा करते रहे। जैसी भी परिस्थिति आवे, हम उदासीन थे। हमें साधना और ध्यान की उत्ताल तरंग अपने साथ लिये जा रही थी। अहा! कैसे दिन थे वे! राक्षस भी ऐसी कठोरता को देख रफूचक्कर हो जाते, फिर मनुष्यों की क्या बात! राखाल, शशि और दूसरों से पूछो; वे तुम्हें बताएँगे। परिस्थितियाँ तुम्हारे जितनी विपरीत होंगी, तुम्हारी भीतर की शक्ति उतनी ही प्रकट होगी। समझे?" स्वामीजी अपने शिष्यों के प्रति ही इस प्रकार खुले और स्पष्टवादी थे, जिससे उनके भीतर भी भक्ति और त्याग की वही ज्वाला धधक उठे; पर दूसरों के पास उन दिनों के सम्बन्ध में वे मौन रहते।

नियमित ध्यान, भजन और अध्ययन के अलावे युवा संन्यासीगण धार्मिक पर्वों को भी सोत्साह मनाते। उन्होंने वराहनगर मठ में पहली बार शिवरात्रि का आयोजन किस प्रकार किया, इसका वर्णन नीचे दिया जा रहा है। यह वर्णन मुख्यतः महेन्द्र की डायरी पर आधारित है। वे उस समय वहाँ उपस्थित थे। वह सोमवार का दिन था—२१ फरवरी १८८७।

नरेन्द्र, राखाल, निरंजन, शरत्, शशि, काली, बाबूराम, तारक, बूढ़े गोपाल, शारदा और हरीश उपस्थित थे। शिव की स्तुति से दिन शुरू हुआ, तारक और राखाल ने नरेन्द्र का रचा 'ताथैया ताथैया नाचे

भोला' गीत गाया और उसकी धुन पर नाचे। शशि ने ठाकुर की पूजा की। तदनन्तर शरत् ने शिव का एक दूसरा भजन गाया। उन्होंने सारा दिन उपवास किया तथा ध्यान और उपासना में सारा दिन बिताया।

अपराह्न में रात्रिपूजा के लिए तैयारियाँ की गयीं। बेलपत्र इकट्ठे किये गये तथा हवन के लिए बेल की लकड़ी काटी गयी। सन्ध्या को शशि ने विभिन्न देवी-देवताओं के चित्रों के सामने धूना जलाया। शिव की पूजा मठ के परिसर में स्थित एक बिल्ववृक्ष के नीचे होनी थी। रात्रि के चारों प्रहर में, हर प्रहर उनका विधिवत् पूजन होना था। रात्रि में नौ बजे सब गुरुभाई वृक्ष के नीचे समवेत हुए। उनमें से एक पर पूजा का भार था। काली गीतापाठ कर रहे थे। वे नरेन्द्र से बीच-बीच में उलझ पड़ते, "मैं ही सब कुछ हूँ। मैं सृष्टि, पालन और नाश करता हूँ।" नरेन्द्र कहते, "मेरे लिए सृष्टि करना कैसे सम्भव है? दूसरी शक्तियाँ मेरे माध्यम से सृजन करती हैं। हमारे सारे कर्म—यहाँ तक कि विचार भी—उसी शक्ति से प्रेरित होते हैं।" काली ने मौन होकर चिन्तन किया और फिर कहा, "तुम जिन कर्मों की बात कहते हो, वे मिथ्या हैं। 'विचार' नाम का कुछ नहीं है। इन सबका विचार ही मुझमें हँसी ला देता है।" नरेन्द्र ने उत्तर दिया, "सोऽहं कहने में जिस 'अहं' का बोध होता है, वह यह अहंकार नहीं है। वह तो वह स्थिति है, जो मन, शरीर आदि को निकाल देने पर बची रहती है।" गीता का पाठ पूरा होने पर काली ने कहा—"शान्तिः! शान्तिः! शान्तिः!"

नरेन्द्र तथा अन्य दूसरे अपने शरीर में भस्म रमाये खड़े हुए तथा बीच बीच में वे वृक्ष के चारों ओर नाचते और गाते हुए परिक्रमा करते। बीच बीच में सब लोगों के समवेत स्वर में तालियों की लय के साथ वह प्राचीन गम्भीर घोष सुनाई पड़ता—"शिव गुरु ! शिव गुरु ! हर ! हर ! बम ! बम !" वह कृष्णपक्ष चतुर्दशी की मध्यरात्रि थी। चहुँओर घोर अँधेरा छाया हुआ था। मनुष्य, पशु और पक्षी सभी शान्त, नीरव थे। तरुण संन्यासियों ने गेरुआ बाना धारण किया था। उनके द्वारा पूरे गले से उच्चारित "शिव गुरु !" की ध्वनि तारा-खचित आकाश की ओर मेघगर्जन के समान ऊपर उठती और अनन्त सच्चिदानन्द में विलीन हो जाती। अन्तिम प्रहर की पूजा की समाप्ति पर पवित्र अग्नि में समस्त देवी-देवताओं और सभी देशों के अवतारों के नाम पर आहु-तियाँ डाली गयीं। पौ फटने ही वाली थी, पूर्वाकाश लालिमा से रँग उठा था। इस पूत सन्धिवेला में संन्या-सियों ने गंगा में स्नान किया।

सुबह वे सभी मठ के पूजागृह में गये और ठाकुर के सामने दण्डवत् प्रणाम किया। फिर वे एक एक करके हॉल में एकत्र हुए। महेन्द्र लिखते हैं—"नरेन्द्र ने नया गरुआ वस्त्र पहन रखा था। उनके वस्त्र की चमकदार नारंगी आभा उनके चेहरे और शरीर की दिव्य आभा से मिलकर एकाकार हो रही थी। उनके शरीर के हर पोर से दिव्य प्रकाश छलक रहा था। उनके मुखमण्डल पर अग्नि की तेजस्विता थी, साथ ही उस पर प्रेम की कोम-लता की छाया थी। सबको ऐसा लगता कि वे अखण्ड सत् और आनन्द के सागर में उठे हुए एक बुलबुले हैं

और अपने गुरुदेव के सन्देश का प्रचार करने के लिए मानव-शरीर धारण किया है। नरेन्द्र तब ठीक २४ वर्ष के थे।" बलराम ने संन्यासियों के नाश्ते के लिए फल-मिठाई भेजी थी। नरेन्द्र एवं कुछ और दूसरों ने यह कहते हुए उसे ग्रहण किया—"बलराम धन्य हैं!" और वे संन्यासी भी धन्य थे, जो दिन और रात ईश्वर और उनकी सेवा में निमग्न रहते थे।

उन दिनों वराहनगर में प्रबल आध्यात्मिक वातावरण था। नरेन्द्रनाथ और उनके गुरुभाइयों के जीवन की कठोरता सभी को चमत्कृत कर देती। परन्तु वे लोग स्वयं अपनी आध्यात्मिक प्रगति से सन्तुष्ट नहीं थे ईश्वर के दर्शन न कर पाने की विकलता में वे उसाँसे लेते, कहते, "ओह! श्रीरामकृष्ण का त्याग और ईश्वर के लिए उनकी व्याकुलता अद्भुत थी! हम तो उनकी उपलब्धि का १।१६ भाग भी न पा सके!"

दर्शन के अध्ययन में घण्टों बीत जाते। काण्ट, हेगेल, मिल, स्पेन्सर तथा नास्तिकों एवं जड़वादियों के सिद्धान्तों पर भी वे बहस करते। धर्म, इतिहास, समाजशास्त्र, साहित्य, कला और विज्ञान उनका ध्यान खींचते। किसी दिन नरेन्द्र सिद्ध कर देते कि ईश्वर कपोलकल्पित है, दूसरे दिन वे तर्क देते कि केवल ईश्वर ही सत्य है। सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त—इनमें से हर एक को लेकर शेष पाँचों की पटभूमि में उसका विचार करते तथा विश्लेषात्मक तीक्ष्णता के साथ उनके मिलन एवं अन्तर के बिन्दुओं को अलग करते। वेदान्त की तुलना बौद्धदर्शन से की जाती तथा विपरीत क्रम से भी दोनों की तुलना होती। कभी कभी

ईसाई मिशनरी मठ में आकर संन्यासियों से तर्क करते। नरेन्द्र हर बिन्दु पर उन लोगों को पराजित कर देते और फिर ईसा की महानता को प्रदर्शित करते। वे मौलिक विचारसरणियों का विकास करते तथा श्रीरामकृष्ण के जीवन और उपदेशों की ऐतिहासिक महत्ता प्रदर्शित करते; साथ ही यह भी बताते कि हिन्दुओं की वर्तमान और भावी पीढ़ियों के लिए श्रीरामकृष्ण के जीवन और उपदेशों का क्या महत्त्व है। वे दिखलाते कि किस प्रकार श्रीरामकृष्ण के जीवन के द्वारा हिन्दुओं को अपने आदर्शों की अधिक सही समझ मिलेगी और उनका धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण बदलेगा।

यद्यपि नरेन्द्र बाहर से ज्ञानी लगते, पर भीतर से वे भक्ति से लबालब भरे थे। एक दिन उन्होंने अपने एक गुरुभाई से, जो ईश्वर-दर्शन न कर पाने के कारण क्षुब्ध थे, कहा, "क्या गीता नहीं पढ़ी ? ईश्वर सर्वभूतों के हृदय में रहते हैं। वे ही मानो जीवन-चक्र को चला रहे हैं, जिससे हम बँधे हुए हैं। तुम तो रेंगनेवाले कीड़े से भी तुच्छ हो। क्या तुम सचमुच ईश्वर को जान सकते हो ? एक मिनट के लिए मनुष्य के सच्चे स्वरूप के सम्बन्ध में सोचने की चेष्टा करो। ये जो अनगिनत तारे दिखाई देते हैं, उनमें से प्रत्येक एक सौरमण्डल है। हम केवल एक सौरमण्डल को देखते हैं और उसका भी एक अनन्तवाँ भाग ही जानते हैं। सूर्य की तुलना में पृथ्वी एक छोटीसी गेंद के समान है और मनुष्य उसकी सतह पर रेंगनेवाले कीड़े के समान है।" तत्पश्चात् वे एक भजन गाने लगे, जिसमें उन्होंने भगवान् के चरणों में अपना समर्पण व्यक्त किया तथा संसार के प्रलोभनों और गर्तों से बचने

के लिए उनकी कृपा की याचना की। उन्होंने पुनः अपने उस गुरुभाई से कहा, "ईश्वर में शरण लो। उनके चरणों में अपने को पूरी तरह समर्पित कर दो। क्या तुम्हें श्रीरामकृष्ण के कथन का स्मरण नहीं? ईश्वर शक्कर के पहाड़ के समान हैं। तुम एक चींटी हो। शक्कर का एक कण तुम्हारे लिए पर्याप्त है। फिर भी तुम समूचा पहाड़ अपने घर ले जाना चाहते हो! शुकदेव अधिक से अधिक एक बड़े चींटे के समान थे। इसीलिए मैं काली से कहता, 'क्या तुम ईश्वर को अपनी स्केल-पट्टी से नापना चाहते हो?' वे अनन्त करुणा के सागर हैं! वे तुम पर अपनी कृपा का वर्षण करेंगे। उनसे प्रार्थना करो—'प्रभो, अपनी मंगलकृपा से हमारी सतत रक्षा करो। असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय!'"

गुरुभाई ने पूछा, "ईश्वर से किस तरह प्रार्थना की जाय?" इस पर नरेन्द्रनाथ बोले, "भला क्यों? तुम्हें उनका नाम ही रटना है। ठाकुर ने हमें यही बताया है।" तब युवा संन्यासी ने कहा, "तुम अभी कहते हो कि ईश्वर है; फिर अपने अन्य मूड में चार्वाक एवं अन्य दार्शनिकों का हवाला देते हुए कहते हो कि यह संसार किसी बाहरी सत्ता द्वारा सृष्ट नहीं हुआ है, अपितु अपने आप निकला है।" नरेन्द्र ने उत्तर में कहा, "पर क्या तुमने रसायन नहीं पढ़ा है? उद्जन और ओषजन मिलकर अवश्य-मेव जल बनाते हैं, पर बिना मानवी अथवा किसी चेतना के हस्तक्षेप के वह साधित नहीं होता। हर व्यक्ति यह स्वीकार करता है कि इन सब सम्मिश्रणों के पीछे कोई चैतन्यशक्ति होनी चाहिए, इस भौतिक जगत् के पीछे

एक सर्वज्ञ सत्ता होनी चाहिए ।" "पर," उस गुरुभाई ने पूछा, "हम कैसे जान सकते हैं कि वह सर्वज्ञ सत्ता करुणामय है ?" नरेन्द्र बोले, "वेद कहते हैं—'तुम्हारा अपना सौम्य मुखमण्डल ।' जान स्टुअर्ट मिल भी यही बात कहते हैं । जिसने मनुष्य के हृदय में करुणा की एक छोटी सी चिनगारी डाली है, वह स्वयं करुणा का सागर ही होगा । ठाकुर कहा करते थे, 'विश्वास ही सार है ।' ईश्वर हमारे सन्निकट है । इसकी अनुभूति के लिए तुम्हें केवल विश्वास चाहिए ।" इस पर उस गुरुभाई ने विनोद-भरे स्वर में कहा, "तुम कभी कहते हो कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है । अभी तुम कह रहे हो कि उसका अस्तित्व है । जब तुम अपनी बातें इतनी जल्दी जल्दी बदलते हो, तो तुम अपने कथन में सच्चे नहीं हो सकते ।" नरेन्द्र ने उत्तर दिया, "मैं इन शब्दों को कभी नहीं बदलूँगा—**जब तक हम अभिमान और वासना से अभिभूत हैं, हमें ईश्वर में विश्वास नहीं है** । किसी न किसी प्रकार की वासना हरदम रहती है ।" फिर भावना की लहर में बह वे गाने लगे—"वे दयालु माता-पिता हैं और शरणागतों को अपनी शरण में लेते हैं ।" इसके बाद के गीतों में जो भक्ति की तीव्रता थी, वह नरेन्द्र के कण्ठ-स्वर के कारण और भी बढ़ गयी । वह कण्ठ-स्वर सुननेवाले सबको आनन्दित कर देता । क्या ठाकुर ने नहीं कहा था—"जैसे साँप वंशी की मधुर तानें सुन मुग्ध हो अपने फन को उठा लेता है, वैसे ही हृदय में रहनेवाला अन्तर्यामी नरेन को गाते सुनकर कर लेता है !"

उन दिनों सभी ठाकुर के भाव में भरे हुए थे । लगता कि उनका व्यक्तित्व उन तरुण संन्यासियों में जीवन्त है ।

वे लोग आध्यात्मिक उत्साह की ऐसी तीव्रता में रहते कि उनके लिए न तो दिन था न रात, न तो घण्टे थे न क्षण। सचमुच, वे लोग पागल थे, ईश्वर-दर्शन के लिए पागल थे। सब प्रकार के आध्यात्मिक अनुभव उनके थे। कुछ ध्यान में निमग्न हो घण्टों निस्पन्द बैठे रहते, तो दूसरे भक्ति के उच्छ्वास में गीत गाते रहते। कुछ की रातें श्मशानघाट में ध्यान की गहराई म बीत जातीं, दूसरे सारा दिन और सारी रात माला फेरते रहते या फिर ईश्वर-साक्षात्कार के निश्चय में रात पर रात धूनी के सामने बैठकर बिता देते।

नरेन्द्र अन्यों के समान ही अपनी साधना में तीव्र थे, पर उन लोगों के प्रति उत्तरदायित्व का भाव उन्हें सावधान रहने को विवश करता। जब वे देखते कि उनका कोई गुरुभाई आवश्यकता से अधिक कठोरता कर रहा है, तो कहते, "क्या तुम सोचते हो कि तुम लोग रामकृष्ण परमहंस बननेवाले हो? यह नहीं हो सकता। एक युग में कहीं एक रामकृष्ण परमहंस जन्म लेता है!"

स्वामी सदानन्द, जो नायक के पुराने शिष्य थे, गुरु के साथ अपने बिताये दिनों की याद करके बाद में कहते, "उन वर्षों में स्वामीजी लगातार चौबीसों घण्टे काम करते। वे अपनी क्रियाशीलता में पागल के समान थे। वे सुबह, अँधेरे में ही, उठ जाते और गाते हुए सबको उठाते—'जागो! उठो, तुम सब लोग, जो दिव्य अमृत पीना चाहते हो!' और मध्य रात्रि बीत जाने के बहुत बाद तक भी वे अन्य संन्यासियों के साथ मठ-भवन की छत पर स्तव-स्तुतियाँ गाते हुए बैठे रहा करते।

पड़ोसियों ने आपत्ति की, पर कोई फल न हुआ। स्वामीजी का मधुर कण्ठ-स्वर 'सीता-राम', 'राधा-कृष्ण' के नाम-धुन में अगुआ बन जाता। वे कठिन दिन थे। विश्राम के लिए समय नहीं था। बाहर के लोग आते और चले जाते। पण्डित लोग तर्क करते और विवेचना-विचार करते, पर स्वामीजी एक क्षण के लिए भी न तो खाली बैठते, न कुण्ठित होते।"

'वराहनगर' श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के भक्तों के लिए 'प्रचण्ड आध्यात्मिक उत्साह' का पर्याय है। जो भी वराहनगर में इन तरुण संन्यासियों के सम्पर्क में आता, उसको उनके ईश्वरोन्माद की छूत लग जाती थी। इनमें से प्रत्येक युवा संन्यासी को श्रीरामकृष्ण ने अपना बना लिया था और वह ठाकुर के एक विशिष्ट पक्ष का प्रतिनिधित्व करता था।

○

रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन

स्वामी गम्भीरानन्द

(अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ)

(दिसम्बर १९८० में रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन का द्वितीय महासम्मेलन २३ से २९ तारीख तक बेलुड़ मठ के प्रांगण में हुआ था, जिसमें लगभग १०,००० प्रतिनिधि देश-विदेश से सम्मिलित हुए थे। इस महासम्मेलन के द्वितीय सत्र की अध्यक्षता करते हुए मठ और मिशन के तत्कालीन अन्यतम महा-उपाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी गम्भीरानन्दजी महाराज ने जो भाषण दिया था, वही प्रस्तुत लेख के रूप में बेलुड़ मठ द्वारा प्रकाशित Ramakrishna Math and Ramakrishna Mission Convention 1980 : Report से साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है। अनुवादक स्वामी विदेहात्मानन्द रामकृष्ण मठ, नागपुर में कार्यरत हैं।—स०)

श्रीरामकृष्ण ने कहा कि ईश्वरानुभूति ही मानव-जीवन का उद्देश्य है और किसी व्यक्ति के कार्यों की समीक्षा इसी दृष्टि से होनी चाहिए कि वह अपने अन्तर में निहित दिव्यता को कितना अभिव्यक्त कर पाता है। ईश्वर तक पहुँचने के लिए प्रत्येक व्यक्ति या समुदाय का मार्ग अलग-अलग हो सकता है और वे वास्तविक श्रद्धा के साथ यदि उन पर चलने का प्रयास करते हैं तो सभी मार्ग सत्य हैं। बहुत्व में निहित एकत्व के आधार पर इस जगत् की रचना हुई है। यद्यपि श्रीराम-कृष्ण ने राजनीति, अर्थशास्त्र एवं सामाजिक विज्ञान में रुचि नहीं ली, फिर भी उनके कुछ कार्य तथा उक्तियाँ आधुनिक मानव के लिए काफी अर्थपूर्ण हैं, क्योंकि वे सर्वांगीण मानवीय विकास के लिए पथ-निर्देश करते हैं।

वस्तुतः ऐसे सारे कर्म अध्यात्म के आधार पर होने चाहिए और श्रीरामकृष्ण के द्वारा जिया गया यह अध्यात्म यथार्थ मानवीय विकास के किसी भी क्षेत्र में बाधक नहीं है। आधुनिक विज्ञान के भौतिकवादी विचारों ने मानवता को आध्यात्मिकता से वंचित कर दिया है। श्रीरामकृष्ण इन महान् भूलों का समाधान देते हैं।

उदाहरणार्थ, विज्ञान ब्रह्माण्ड की समस्त प्रतीयमान घटनाओं की व्याख्या के लिए यांत्रिक नियमों में विश्वास करता है और अपवादों को प्रकृति की मौज मानकर अस्वीकार कर देता है, परन्तु श्रीरामकृष्ण का विश्वास था कि प्रत्येक घटना के पीछे बौद्धिक चेतनायुक्त पुरुष विद्यमान हैं। विज्ञान के मतानुसार प्रत्येक मानव के व्यक्तित्व का एक बड़ा अंश अन्धकार के गर्भ में डूबा हुआ है, जो स्वयं उसके लिए भी अज्ञात है और उसका वास्तविक स्वरूप नारकीय है। परन्तु श्रीरामकृष्ण ने अपने शिक्षाविहीन बाल्यकाल में भी अपनी स्वाभाविक ईश्वर-तन्मयता के द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि मानव की आध्यात्मिकता बाह्य परिस्थितियों द्वारा संघटित कोई वस्तु नहीं है, अपितु वह स्वरूपतः दिव्य है। लोग कहते हैं कि भौतिक समृद्धि के आधार पर ही मानव-सभ्यता विकसित होती है। और श्रीरामकृष्ण भी कहते हैं कि खाली पेट में धर्म नहीं होता, अतः इस प्रकार वे उस विचार का अंशतः समर्थन ही करते हैं। परन्तु मानो ईसामसीह की उक्ति की पुष्टि के लिए कि मानव केवल रोटी से ही नहीं जीता, उन्होंने अपनी एक हथेली पर मिट्टी का ढेला लिया और दूसरी पर चाँदी

का रुपया तथा दोनों की कई बार अदला-बदली कर दोनों को ही यह कहते हुए जल में फेंक दिया कि मिट्टी और रुपया एक ही चीज हैं! उनके इस कथन का मर्म यह था कि आध्यात्मिकता को त्यागकर भौतिक उन्नति करना आत्मघात के समान होगा। जिन दिनों विकासवादी अपनी कर्कश वाणी में 'struggle for existence' (अस्तित्व के लिए संघर्ष) और 'survival of the fittest' (सर्वोत्तम की अतिजीविता) आदि नारे लगा रहे थे, श्रीरामकृष्ण ने कहा कि नर-नारियों से प्रेम ही नहीं किया जाना चाहिए, वरन् ईश्वर-भाव से उनकी पूजा करनी चाहिए। मानव के आपसी सम्बन्ध सार्वभौमिक सेवा के विचार पर आधारित हों। एक मूल विचार, जो स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरुदेव से सीखा, यह था कि मनुष्य को केवल अपनी व्यक्तिगत मुक्ति के लिए संघर्ष न कर इस परम-पुरुषार्थ में दूसरों की सहायता करनी चाहिए। जबकि वैज्ञानिकगण सर्वत्र पदार्थ और ऊर्जा देख रहे थे, श्रीरामकृष्ण ने केवल ईश्वर को देखा एक ऐंग्लो-इण्डियन (आँग्ल-भारतीय) बालक को वृक्ष के सहारे खड़े देखकर उन्हें श्रीकृष्ण की उद्दीपना हो गयी और वे गहन समाधि में डूब गये। मदिरा की दुकान तथा कुछ मदमत्त लोगों के पास से होकर गुजरते समय वास्तविक दृश्य उनकी आँखों के सामने से लुप्त हो गया और वे आनन्द के सागर में डूब गये।

उनके मतानुसार अध्यात्म के आधार पर ही सामाजिक समस्याओं का हल करना होगा; उदाहरणार्थ, उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था—"जातिप्रथा को केवल

एक ही उपाय से दूर किया जा सकता है: भक्तों के जाति नहीं होती।" केशवचन्द्र सेन एक ब्राह्मसमाजी थे तथा समुद्र पार कर विदेशगमन के कारण अपनी जाति खो बैठे थे, फिर वे जाति-पाँति के नियमों का भी पालन नहीं करते थे। ऐसे केशवचन्द्र से श्रीरामकृष्ण के मिलने जाने पर जब कप्तान विश्वनाथ उपाध्याय ने उनकी भर्त्सना की, तो उन्होंने उत्तर में कहा, "तुम धन के लिए लेफ्टिनेंट गवर्नर के यहाँ जा सकते हो और मैं धर्मचर्चा के लिए केशव के यहाँ नहीं जा सकता?" उन्होंने स्वामी विवेकानन्द को अपना प्रधान शिष्य बनाया, जो ब्राह्मण नहीं थे। वे छोटे परिवार का उपदेश देते थे और उसका नुस्खा बताते हुए कहते थे कि एक-दो बच्चे हो जाने के बाद पति-पत्नी भगवच्चर्चा करते हुए भाई-बहन की भाँति रहें। जीवन में भगवत्प्रेम का ही सर्वोपरि महत्त्व है, और इस बात को उन्होंने अपने घरेलू शब्दों में कहा था—"यदि कोई गोमांस या शूकर का मांस खाकर भी अपना मन ईश्वर में लगाये रख सकता है तो वह धन्य है, परन्तु यदि वह हविष्यान्न खाकर भी विषय-चिन्तन करता रहता है तो मैं कहता हूँ, 'तुम्हें धिक्कार है'।" नारी को पत्नी नहीं माता की दृष्टि से देखना चाहिए। उनके दो विशेष उद्धरण निम्नलिखित हैं—'यदि मूर्ति में ईश्वर की पूजा की जा सकती है, तो फिर मनुष्य में क्यों नहीं की जा सकती?' और 'यह कैसी बात है कि ईश्वर बन्द आँखों से दीखते हैं और खुली आँखों से नहीं?' ये तथा उनके अन्य विचार एवं आदर्श इतने सशक्त थे कि उन्होंने जगत् में सर्वत्र

विचारशील लोगों की चिन्तन-पद्धति में क्रान्ति ला दी और इस प्रकार रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन का सूत्रपात किया।

यहाँ रामकृष्ण मठ तथा रामकृष्ण मिशन के बारे में अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अब वे सर्वविदित हो चुके हैं। फिर यह विषय इस सम्मेलन के दूसरे सत्रों में चर्चित भी होगा। यहाँ पर मैं जिस बात पर बल देना चाहता हूँ, वह यह है कि हम रामकृष्ण मठ तथा रामकृष्ण मिशन के संन्यासीगण स्वामीजी के निर्देशों का अनुसरण करते हुए सावधानी-पूर्वक तथा संरक्षणशील ढंग से आगे बढ़ रहे हैं। इस कारण, जहाँ तक कम से कम ठोस परिणामों का प्रश्न है, लोगों को लगता है कि इस विशाल आन्दोलन में हमारी भूमिका उतनी प्रभावशाली नहीं है। परन्तु संगठन का विस्तार और विचारों का प्रसार इन दोनों ही क्षेत्रों में बेलुड़ मठ से अ-सम्बद्ध, अ-मान्यताप्राप्त अथवा 'प्राइवेट' आश्रमों द्वारा चलायी जा रही संस्थाएँ, सांस्कृतिक कार्यक्रम, राहत-कार्य, अध्ययन-मण्डल, प्रचार-कार्य आदि भी मठ और मिशन के कार्यों के पूरक हैं। आइए, अब हम पूरे रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन का विहंगावलोकन करें।

यद्यपि इस आन्दोलन को तत्त्वतः रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन कहना ही उचित है, परन्तु ऐसे भी मनुष्यों के दल हैं, जिनमें विशेष करके राजनीतिज्ञ, समाज-शास्त्री तथा मानवतावादी शामिल हैं, जो स्वामी विवेका-नन्द को अधिक महत्त्व देते हैं। इतिहास को इस तथ्य में संशोधन करना होगा। परन्तु हम समझौता करके

तथा सुविधा की दृष्टि से इसे रामकृष्ण-विवेकानन्द-भाव-आन्दोलन कहेंगे और सदा स्मरण रखेंगे कि यद्यपि स्वामीजी ने अपनी कर्मठता से इन विचारों का जगत् में प्रचार किया और बताया कि उनका व्यावहारिक जीवन में कैसे उपयोग करें, तथापि उनका उद्‌गम श्रीरामकृष्ण से ही हुआ था।

अर्वाचीन भारत पर श्रीरामकृष्ण और विवेकानन्द के प्रभाव के सन्दर्भ में रोमाँ रोलाँ अपने 'विवेकानन्द' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं--"यह 'बृहत्तर भारत', यह नव भारत--जिसके अभ्युदय की बात राजनीतिज्ञ तथा विद्वज्जन हमसे शुतुरमुर्ग की भाँति छिपाते आये हैं और जिसका विलक्षण प्रभाव अब हमारे सामने स्पष्ट हो उठा है, रामकृष्ण की आत्मा से परिव्याप्त है। परमहंस तथा उनके विचारों को कार्यरूप में परिणत करनेवाले वीर (विवेकानन्द)--ये युग्म-नक्षत्र वर्तमान भारत को प्रभावित तथा प्रेरित कर रहे हैं। उनकी उष्ण कान्ति खमीर के समान कार्य करते हुए भारतभूमि को उर्वर बना रही है। भारत के महान् नेतागण--मनीषी शिरोमणि अरविन्द घोष, कवीन्द्र रवीन्द्र और महात्मा गाँधी--ये सभी राजहंस और गरुड़ के युग्म-नक्षत्र आलोक में ही पल्लवित, पुष्पित और फलित हुए हैं। अरविन्द और गाँधी ने यह बात सार्वजनिक रूप से स्वीकार की है।"

१९२३ ई. में बेलुड़ मठ में स्वामी विवेकानन्द के जन्मतिथि-महोत्सव के अवसर पर आयोजित सभा को सम्बोधित करते हुए महात्मा गाँधी ने कहा था--"मैं यहाँ स्वामी विवेकानन्द के जन्म-दिवस पर उनकी पुण्य-

स्मृति में श्रद्धांजलि अर्पित करने आया हूँ। मैंने स्वामीजी के ग्रन्थ बड़े ही ध्यानपूर्वक पढ़े हैं और इसके फलस्वरूप देश के प्रति मेरा प्रेम हजारोंगुना बढ़ गया है। युवकों से मेरा अनुरोध है कि स्वामी विवेकानन्द जहाँ निवास करते थे और जहाँ उन्होंने देहत्याग किया, वहाँ से कुछ प्रेरणा लिये बिना खाली हाथ न लौटें।"

२० मार्च १९४९ ई. को भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने रामकृष्ण मिशन, नई दिल्ली में आयोजित एक सभा के दौरान कहा था—"स्वामीजी ने जो कुछ भी लिखा या कहा है, वह हमारे हित में है और होना ही चाहिए तथा वह आनेवाले लम्बे समय तक हमें प्रभावित करता रहेगा। वे साधारण अर्थ में कोई राजनीतिज्ञ नहीं थे, फिर भी, मेरी राय में, वे भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के महान् संस्थापकों में से एक थे, और आगे चलकर जिन लोगों ने उस आन्दोलन में थोड़ा या बहुत सक्रिय भाग लिया उनमें से अनेक के प्रेरणास्रोत स्वामी विवेकानन्द थे। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने वर्तमान भारत को सशक्त रूप से प्रभावित किया था। और मेरे विचार में तो हमारी युवा पीढ़ी स्वामी विवेकानन्द से निःसृत होनेवाले ज्ञान, प्रेरणा और उत्साह के स्रोत से लाभ उठाएगी।"

भारत के गणराज्य घोषित होने से पूर्व हुए भारत के अन्तिम गवर्नर जनरल चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने कहा था—"स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म को बचाया और इस प्रकार भारत की रक्षा की। वे न होते तो हम अपना धर्म गँवा बैठते और आजादी नहीं पा सकते

थे। अतएव हम सभी बातों के लिए स्वामी विवेकानन्द के ऋणी हैं। मेरी कामना है कि उनका विश्वास, उनका साहस और उनका विवेक हमें सदा-सर्वदा प्रेरित करता रहे, जिससे उनसे मिली सम्पदा को हम सुरक्षित रख सकें।"

यद्यपि अनेक नेताओं ने भारत के राजनीतिक पुनर्गठन पर स्वामी विवेकानन्द के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव की बात स्वीकार की है, परन्तु स्वयं स्वामीजी न अपने को राजनीतिक मानने से बारम्बार स्पष्ट रूप से इनकार किया है। उन्होंने नैतिकता और अध्यात्म को ही राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की नींव बनाना चाहा था, इस बात पर बल देते हुए श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने सितम्बर १९८० ई. में कलकत्ते क स्कॉटिश चर्च कालेज की एक सभा में कहा था कि शिक्षा के क्षेत्र में राजनीति का प्रवेश हो जाने के कारण देश का शैक्षणिक वातावरण दूषित हो चुका है, इसका समाधान स्वामी विवेकानन्द का अनुसरण करने में है, जो कभी इसी कालेज के विद्यार्थी थे और जिन्होंने शिक्षा की परिभाषा करते हुए बताया था कि वह मात्र कुछ जानकारियों का संग्रह नहीं है, अपितु वह तो मनुष्य-निर्माणकारी एवं चरित्र-निर्माणकारी विचारों को जीवन में भिदा लेना है।

स्वामी विवेकानन्द ने न केवल राजनीति का बहिष्कार किया, वरन् राष्ट्रवाद, मानवतावाद या हम जगत् पर शासन करने को 'ईश्वर-निर्दिष्ट' हैं---ऐसे संकीर्ण विचारों का भी त्याग किया। वे इस अर्थ में क्रान्तिकारी थे कि सम्पूर्ण मानवजाति के पुनर्गठन के

लिए उन्होंने अपने गुरुदेव के अद्वैत वेदान्त पर आधारित सन्देश को ही अपना आधार बनाया। यह सन्देश सबके भीतर अव्यक्त रूप से निहित दिव्यत्व, बहुत्व के भीतर निहित एकत्व तथा नैतिकता के सार-सर्वस्व के रूप में प्रेम में विश्वास रखता है। एक अन्य अकल्पनीय स्थान से भी इस सन्देश को समर्थन प्राप्त होता है। ब्रिटिश सरकार द्वारा क्रान्तिकारी आन्दोलनों पर रपट तैयार करने के लिए नियुक्त रौलट कमेटी ने लिखा था--"वे (विवेकानन्द) अपने अनुयायियों की एक छोटी टोली के साथ १८९७ ई. में भारत लौटे और अनेक शिक्षित हिन्दुओं द्वारा अपने धर्म के रक्षक एवं आचार्य घोषित किये गये। उन्होंने रामकृष्ण मिशन की देखरेख में जन-कल्याण एवं धर्मसाधना के केन्द्रों का गठन किया और अपने गुरुदेव के उपदेशों को और भी आगे ले जाकर यह प्रचार किया कि वेदान्तवाद ही विश्व का भावी धर्म है। उन्होंने यह भी बताया कि वर्तमान काल में यद्यपि भारत एक विदेशी शक्ति के अधीन है, तथापि मानव-जाति के धर्मविश्वास की उसे सावधानीपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। उसे शक्ति (Mother of strength) की सहायता से स्वाधीनता के लिए प्रयास करना चाहिए।"

मानव में निहित दिव्यत्व को अभिव्यक्त करने का स्वामीजी का आह्वान व्यर्थ नहीं गया और इसे स्वीकार करते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं--"विवेकानन्द ने कहा है कि प्रत्येक मानव में ब्रह्म की शक्ति विद्यमान है; यह भी कहा है कि दीन-दु:खी लोगों में विद्यमान नारायण हमारी सेवा चाहते हैं। कितना अद्भुत सन्देश

है ! इस सन्देश ने मनुष्य को उसके स्वार्थबोध की सीमा से बाहर निकालकर उसके आत्मबोध को असीम मुक्ति का पथ दिखाया है। इसमें किसी विशिष्ट आचार का उपदेश नहीं है और न कोई व्यावहारिक संकीर्ण आदेश ही है। छुआछूतवाद का विरोध तो इसमें स्वतः ही आ जाता है—इस कारण नहीं कि इससे राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति में सुविधा होगी, बल्कि इसलिए कि इससे मानवता का कलंक दूर होगा; क्योंकि अस्पृश्यता हम सबके लिए लज्जा की बात है।

"और चूंकि विवेकानन्द का यह सन्देश हममें निहित पूर्ण मनुष्यत्व के जागरण के लिए है, इसने हमारे अनेक नवयुवकों को कर्म और त्याग-बलिदान के माध्यम से मुक्ति के विविध पथों पर चलने की प्रेरणा दी है।"

हमने अब तक यह दिखाने का प्रयास किया कि रामकृष्ण-विवेकानन्द का सन्देश किसी राजनीति से प्रेरित न था। इसके बावजूद इसने मानव-जीवन की अन्तरतम गहराइयों तक ऐसा सशक्त प्रभाव डाला कि लोग व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से, जीवन के विविध क्षेत्रों में, इन विचारों को अपनाने के लिए बाध्य हुए। हमने एक समय तत्कालीन केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के एक सदस्य स्व० शरत्चन्द्र बोस को एक सार्वजनिक व्याख्यान में कहते सुना था—"सरकार ने श्रीरामकृष्ण का 'सभी धर्म सत्य हैं' सन्देश अपना लिया है—यह बतलाकर मैं अपने मंत्रिमण्डल का कोई भेद नहीं खोल रहा हूँ।"

भारतीय संविधान में यद्यपि इस बात का उल्लेख नहीं हुआ है और वहाँ मात्र यह घोषणा की गयी है कि भारत एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है, तथापि जब भी किसी

राजनीतिक नेता से धर्मनिरपेक्षता की परिभाषा पूछी जाती है तो वह बिना किसी द्विधा के कहता है कि धर्मनिरपेक्षता का अर्थ सभी धर्मों के प्रति समभाव है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू अन्तर्राष्ट्रीय-सम्बन्ध के पाँच नियमों अर्थात् पंचशील के प्रणेताओं में एक थे तथा वे विभिन्न आदर्शों के आधार पर गठित राष्ट्रों के सह-अस्तित्व के राजनीतिक सिद्धान्त के एक सह-प्रवक्ता थे। भले ही उनके कहने का ढंग अलग हो, पर वे भी श्रीराम-कृष्ण के समन्वयवादी सन्देश से प्रभावित थे। श्रीरामकृष्ण का कहना था कि हमें अपनी सुख-सुविधा में ही सन्तुष्ट न रहकर वंचित और पीड़ित लोगों की सेवा करनी चाहिए, और यह कहना मात्र कल्पना नहीं है कि जब उन्नत राष्ट्रों को अविकसित राष्ट्रों की सहायता करने की याद दिलायी जाती है, तो वहाँ श्रीरामकृष्ण की वही वाणी प्रतिध्वनित होती है। जीवन के विविध क्षेत्रों में श्रीरामकृष्ण के इन विचारों का व्याप्त हो जाना सम्भव है, क्योंकि उनके एक शिष्य स्वामी शिवानन्द ने घोषणा की थी कि श्रीरामकृष्ण के जन्म से सम्पूर्ण संसार की ब्रह्म-कुण्डलिनी जाग्रत् हो गयी है।

श्रीरामकृष्ण के ही एक अन्य शिष्य स्वामी सारदा-नन्द ने भी अपने प्रसिद्ध जीवनी-ग्रन्थ 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग' (खण्ड २, पृ. ५११) में इस मत का समर्थन किया है। वे लिखते हैं—"पाश्चात्य शिक्षा से एकदम अछूता रहकर, भारत में प्रचलित कुसंस्कार कहलाने-वाले धर्मभाव के द्वारा अपने गठित जीवन में श्रीराम-कृष्ण ने संसार को जो धर्ममधु प्रदान किया, इससे पूर्व क्या उसका अमृतमय आस्वाद उसे और कभी प्राप्त

हुआ है? जिस महान् धर्मशक्ति का संचय कर उन्होंने अपने शिष्यवर्ग में उसे संचारित किया है, जिसके प्रबल उच्छ्वास से बीसवीं सदी के विज्ञान के आलोक में भी लोग धर्म को भी एकदम प्रत्यक्ष विषय समझने लगे हैं और सब धर्मों के भीतर एक अपरिवर्तनशील जीता-जागता सनातन धर्मस्रोत प्रवाहित होते देख रहे हैं—क्या इससे पूर्व संसार ने और कभी उस शक्ति का अभिनय देखा है? जैसे वायु एक फूल से दूसरे फूल की ओर जाती है, वैसे ही मानव-जीवन क्रमशः एक सत्य से दूसरे सत्य पर पहुँचता हुआ एक अपरिवर्तनीय अद्वैत सत्य की ओर धीरे-धीरे अग्रसर हो रहा है और एक दिन ऐसा आएगा जब वह उस अनन्त, अपार अवाङ्-मनसगोचर सत्य की निश्चित उपलब्धि कर पूर्णकाम बन जाएगा—क्या कभी संसार में इसके पहले यह अभयवाणी सुनी गयी है?...धर्मजगत् के एकदेशीय भाव को...अपने जीवन में सम्पूर्ण रूप से विनष्ट कर विपरीत धार्मिक मतों में यथार्थ समन्वय-रूप असाध्य-साधन करना एक निरक्षर ब्राह्मण बालक के लिए कैसे सम्भव हुआ—क्या ऐसा चित्र और कभी किसी ने देखा है? हे मानव, धर्मजगत् में श्रीरामकृष्ण का उच्चासन कहाँ पर प्रतिष्ठित है, यह निर्णय करना यदि तुम्हारे लिए सम्भव हुआ हो तो बताओ; किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ कहने का हम साहस न कर सके; केवल इतना ही हम कह सकते हैं कि उनके चरणस्पर्श से निर्जीव भारत अत्यन्त पवित्र तथा जागृत हो उठा है एवं संसार के गौरव तथा आशा के स्थल पर उसने अपना अधि-कार जमा लिया है—उनके मानवशरीर धारण करने

के फलस्वरूप मानव भी देवताओं का पूज्य बन गया है। और उनके द्वारा जिस शक्ति का जागरण हुआ है, उस अद्भुत लीलाभिनय के आरम्भमात्र को ही संसार ने स्वामी विवेकानन्दजी में अनुभव किया है।"

जब स्वामी विवेकानन्द १८९३ ई. में शिकागो में आयोजित धर्ममहासभा के केन्द्र-बिन्दु बन गये, तो सम्पूर्ण मानवजाति ने वर्ण, पन्थ, संस्कृति तथा अन्य भेदों को भुलाकर उनकी प्रशस्ति की थी। अमेरिका में व्याख्यान-दौरे के दौरान, एक दिन जब स्वामीजी रेलगाड़ी से नीचे उतर रहे थे तो उनके स्वागत की भव्य तैयारियों पर मुग्ध एक नीग्रो कुली उनके समीप आकर बोला—मैंने सुन रखा था कि हमारे ही समुदाय का एक व्यक्ति बड़ा प्रसिद्ध हो गया है, आज मैं आपसे हाथ मिलाने का सौभाग्य प्राप्त करना चाहता हूँ। स्वामीजी ने पूरे हृदय से उस कुली का हाथ जकड़ लिया और बोल उठे—"धन्यवाद, धन्यवाद, मित्र!" इस प्रकार विभिन्न अवसरों पर कई बार भ्रान्तिवश उन्हें नीग्रो समझ लिया गया था। परन्तु उन्होंने कभी उसका प्रतिवाद नहीं किया, और न ही कभी यह बताने का प्रयास किया कि वे नीग्रो नहीं वरन् भारतीय हैं। परवर्ती काल में जब उनके एक पाश्चात्य शिष्य ने इन घटनाओं का उल्लेख करते हुए विस्मयपूर्वक पूछा कि उन्होंने अपना वास्तविक परिचय क्यों नहीं दिया था, तो उन्होंने उत्तर दिया—"क्या कहा! दूसरों को छोटा करके ऊपर उठना! मैं जगत् में ऐसा करने नहीं आया।"

यद्यपि ऊपर उद्धृत अधिकांश घटनाएँ स्वामी विवेकानन्द की महानता प्रदर्शित करती हैं, तथापि

श्री अरविन्द जो इस बात को और भी अच्छी तरह जानते थे, ने अपनी 'कर्मयोगिन्' पत्रिका में लिखा था—"वे (श्रीरामकृष्ण) हमारे पीछे अवस्थित शक्ति तथा हमारे सम्मुख अवस्थित भविष्य के प्रमाणस्वरूप हैं। ऐसे महान् व्यक्तित्व का जन्म जगत् में महान् घटनाओं का श्रीगणेश करता है। बहुत से लोगों की स्वर्ण के समान अग्निपरीक्षा होगी और अनेकों खरे पाये जाएँगे। ...गुरु द्वारा निर्दिष्ट होकर एक वीरपुरुष की भाँति पूरे विश्व को अपने हाथों में लेकर बदल डालने के सुनिश्चित उद्देश्य के साथ स्वामी विवेकानन्द का जाना जगत् के समक्ष प्रथम संकेत था कि भारत न केवल बचे रहने को, अपितु विजय करने को भी जागा है।"

१८९५ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने भगिनी क्रिस्टीन तथा अन्य लोगों से कहा था कि यद्यपि इस समय वाणिज्यप्रधान राष्ट्रों का जगत् पर प्रभुत्व है, परन्तु शीघ्र ही श्रमिक वर्ग का शासन आनेवाला है। उन्होंने यह भविष्यवाणी भी की थी कि यूरोप एक ज्वालामुखी के किनारे बैठा हुआ है और यदि आध्यात्मिकता की बाढ़ से उसकी अग्नि शान्त नहीं की गयी तो उसका भड़कना अवश्यम्भावी है। फिर उन्होंने यह भी कहा—"वह आगामी महा आलोड़न जिससे एक नवीन युग की शुरुआत होगी, या तो रूस से आएगा या चीन से। मैं स्पष्ट रूप से नहीं देख पा रहा हूँ, पर या तो वह रूस से आएगा अथवा चीन से।" उनकी भविष्यवाणी प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४-१८ ई.) के समय सत्य सिद्ध हुई। टाल्स्टाय स्वामीजी के प्रशंसक थे। इसके अतिरिक्त, स्वामीजी पेरिस में क्रोपोट्कीन से तथा अमेरिका में

ही कुछ अन्य रूसी क्रान्तिकारियों से मिले थे। ऐसा अनुमान है कि इन तथा अन्य माध्यमों से भी उनके विचार रूस में फैले तथा अब भी दढ़ता एवं शान्तिपूर्वक क्रियाशील हैं।

वहाँ से एक सांस्कृतिक प्रतिनिधिमण्डल के बेलुड़ मठ आने पर एक स्वामीजी उन्हें मठ दिखाने को ले गये और पूछा कि क्या वे लोग स्वामी विवेकानन्द का कमरा भी देखना चाहेंगे। ताशकन्द से आये एक सज्जन ने, जो नाम से मुसलमान प्रतीत होते थे, आगे बढ़कर कहा—"विवेकानन्द! हमें उनका कमरा देखकर बड़ा ही आनन्द होगा।" अतः पूरा प्रतिनिधिमण्डल वहाँ गया और उसने अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक सब कुछ देखा।

जहाँ तक चीन का प्रश्न है, कुछ ही महीनों पूर्व पीकिंग विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक तथा चीन के इतिहासकार श्री हुआंग सिन चुवांग ने कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी में आयोजित एक सभा को सम्बोधित करते हुए कहा था कि स्वामी विवेकानन्द के सामाजिक एवं दार्शनिक विचारों तथा उनकी देशभक्ति ने भारतवर्ष को तो प्रभावित किया ही है, साथ ही विदेशों में भी अपना प्रभाव-विस्तार किया है। उन्होंने यह भी बताया कि आधुनिक चीन स्वामी विवेकानन्द को अत्यन्त सम्मानित स्थान प्रदान करता है। प्राध्यापक के मतानुसार, स्वामीजी को अपनी द्वितीय अमेरिका-यात्रा के दौरान यह प्रतीत हुआ कि डालर-सभ्यता भारत के लिए अधिक उपयोगी न होगी, बल्कि चीन ही उनका भारत की उन्नति का स्वप्न पूरा कर सकेगा।

हम रोमाँ रोलाँ का उद्धरण पहले ही दे आये हैं,

जिन्होंने भारतवर्ष तथा सम्पूर्ण जगत् के कल्याणार्थ रामकृष्ण-विवेकानन्द के जीवन तथा कार्य की स्तुति की है। उनके भी पूर्व प्रो० मैक्समूलर ने श्रीरामकृष्ण के जीवन की उदात्तता महसूस की थी और 'दि ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी' पत्रिका में उन पर 'एक प्रकृत महात्मा' शीर्षक से लेख लिखा था। फिर कुछ वर्ष बाद उन्होंने श्रीरामकृष्ण की एक सम्पूर्ण जीवनी लिखी और उसके साथ कुछ उपदेशों का संकलन कर प्रकाशित कराया, जिसने पाश्चात्य जगत् पर काफी प्रभाव विस्तार किया।

डा० राधाकृष्णन् ने अपने 'प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार' नामक ग्रन्थ में पाश्चात्य जगत् पर भारतीय विचारों का प्रभाव भलीभाँति सिद्ध किया है। उसका उल्लेख करते हुए १९५४ ई. में प्रो० ए. एल. बाशम ने लिखा था—"पिछले अस्सी वर्षों के दौरान थियासाफिकल सोसायटी, विभिन्न बौद्ध संस्थाओं तथा यूरोप एवं अमेरिका में अन्य अनेक संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ है। वे सभी बंगाल के १९वीं सदी के महात्मा परमहंस रामकृष्ण तथा उनके उतने ही सन्त-शिष्य स्वामी विवेकानन्द की ओर प्रेरणा के लिए ताकती हैं।"

अब मैं कुछ पाश्चात्य विचारकों के उद्धरण प्रस्तुत करूँगा, जिससे आप उनके मूल्यांकन के अनुसार श्रीरामकृष्ण के सन्देश की गहराई, विस्तार तथा भावी सम्भावनाओं को समझ सकें।

विल डूराण्ट—"उन्होंने (श्रीरामकृष्ण) लोगों का बहुदेववाद अत्यन्त सहानुभूतिपूर्वक सहन किया तथा दार्शनिकों का अद्वैतवाद भी विनयपूर्वक स्वीकार किया, परन्तु उनका अपना जीवन्त विश्वास था कि ईश्वर

सभी लोगों में आत्मा के रूप में विद्यमान हैं और मानव-जाति की स्नेहपूर्ण सेवा ही उनकी सच्ची उपासना है।"

विलियम डिग्बी—"पिछली शताब्दी के ब्रिटिश बौद्धिक उत्कर्ष का सर्वोत्तम फल सम्भवतः हमें राबर्ट ब्राउनिंग तथा जॉन रस्किन में मिलता है। तथापि बंगाल के असंस्कृत एवं अशिक्षित रामकृष्ण की तुलना में ये लोग केवल अँधेरे में ही टटोलनेवाले थे। हम जिसे 'विद्वत्ता' कहते हैं, उससे अपरिचित रहकर भी उन्होंने (श्रीरामकृष्ण ने) ऐसी बातें कहीं, जो उनके काल में किसी और ने नहीं कही थीं तथा थके-माँदे मर्त्य जीवों को ईश्वर का बोध कराया।"

लार्ड रोनाल्डसे—"पिछले कुछ वर्षों में बंगाल के जनमानस पर शायद ही किसी ने इतना गहरा प्रभाव डाला होगा, जितना कि गदाधर चटर्जी ने। वे इतिहास में रामकृष्ण परमहंस के नाम से तथा उनके प्रमुख शिष्य नरेन्द्रनाथ दत्त स्वामी विवेकानन्द के नाम से सुप्रसिद्ध हैं। एक ऐसे काल में जबकि पाश्चात्य विचारों तथा तौर-तरीकों की धूम मची हुई थी, उन्होंने प्राच्य आदर्श का पक्ष लिया; महत्त्वाकांक्षा के युग में त्याग का पक्ष लिया; जब यांत्रिक विज्ञान के आविष्कार जीवन को जटिलतर बनाये जा रहे थे, उन्होंने सादा जीवन का पक्ष लिया।"

प्रो० निकोलस डि रोरिक—"विश्व के सभी अंचलों के लोग श्रीरामकृष्ण के प्रति श्रद्धाभाव रखते हैं। स्वामी विवेकानन्द भी उनके सच्चे शिष्य के रूप में समादृत होत हैं। रामकृष्ण, विवेकानन्द तथा उनके महान् अनु-यायियों के नाम भारतीय अध्यात्म-संस्कृति के इतिहास

में सबसे महत्त्वपूर्ण पृष्ठों पर अंकित हैं।...सदुपदेशों के चिरन्तन मूल्य पर जोर देने के अतिरिक्त श्रीरामकृष्ण ने, विशेषकर वर्तमान युग के लिए, उनका निर्विवाद महत्त्व भी प्रतिपादित किया। आज जब गलत सूत्रों के माध्यम से आध्यात्मिकता की व्याख्या कर उसका विरोध किया जा रहा है, तब आलोकस्तम्भ के समान सकारात्मक समर्थन अत्यन्त मूल्यवान् हो जाता है।...हमें केवल नगरों की उस बड़ी तालिका पर ध्यान देना होगा, जहाँ इस मिशन की शाखाएँ फैली हुई हैं। इनकी संख्या को बढ़ा-चढ़ाकर कहने की आवश्यकता नहीं। इन विचार-बोधक सभाओं में कोई भी असामान्य उत्तेजना या योजना नहीं दीख पड़ती। यहाँ पर हलचल या दौड़धूप नहीं है, वरन् सब कुछ अन्तर की गहराई से अनुभव किया जाता है और धीरे-धीरे सर्वोच्च सन्तुलन का विकास होता है।"

प्रो० डा० हेल्मुत वान ग्लैसेनैप—"इस वर्ष (१९३७ ई.) हम जिन प्रातःस्मरणीय महापुरुष (श्रीरामकृष्ण) की जन्मशताब्दी मना रहे हैं, उन्होंने धर्मानुरागियों के कल्याणार्थ अपनी प्रसिद्ध उक्तियों के द्वारा वैदिक ऋषियों एवं महान् आचार्यों के गहन ज्ञान पर एक नया प्रकाश डाला है तथा अपने जीवन में उनकी अनुभूति की है। इस प्रकार उन्होंने मानवता की महती सेवा की है। कल्पना के एक सुनिश्चित एवं ठोस अध्यात्म-जगत् में रहकर और विश्वास के पारम्परिक बने-बनाये साधना-पथ पर चलकर सत्य की उपलब्धि हो सकती है—इस तथ्य में पूर्ण श्रद्धा रखकर वे उच्चतर चेतना के राज्य में प्रवेश करने में सफल हुए। मुक्ति के विभिन्न मार्गों

पर चलकर प्राप्त हुए अनुभवों का व्यवस्थित रूप से अध्ययन करने से उन्हें बोध हुआ कि साधना के सारे पथ समान रूप से सत्य हैं और उन्होंने उनकी सीमाओं को तोड़ डाला। इस प्रकार उन्हें एक ऐसे दृष्टिकोण की उपलब्धि हुई, जो समस्त वैचित्र्य के 'दूसरी ओर' विद्यमान है, और एक ऐसे धर्मसमन्वय की अनुभूति हुई, जो हमारी सीमित विचारशक्ति की समझ से परे है।"

काउण्ट हरमन कैसरलिंग—"दक्षिणेश्वर के सन्त पर अपने मन को एकाग्र करते हुए मैं एक विशेष प्रकार की हार्दिक भावना से अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता। वे निश्चय ही ऐसे कुछ के प्रतीक हैं, जो शाश्वत है।"

पितिरिम ए. सोरोकिन—"महान् तपस्वी एवं योगी, सच्चे धर्मनेता एवं ऋषि ईश्वर अथवा ब्रह्म के साथ एकत्वानभूति की साधना के द्वारा सर्वाधिक परोपकार करते हैं। सन्त एन्टोनी, पैकोमियस, सन्त जेरोम, श्रीरामकृष्ण, सन्त बेनेडिक्ट तथा अन्य उल्लेखनीय प्राच्य एवं पाश्चात्य योगी, ऋषि, तपस्वी तथा संन्यासी-संघ के संस्थापकों ने जिस विशिष्ट पद्धति से अपना उदात्त परोपकारवाद व्यक्त किया है, वह है ईश्वर के साथ एकात्म-अनुभूति की साधना करना तथा इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड को अपने प्रेम-आलिंगन में आबद्ध कर लेना।

"पाश्चात्य जीवविज्ञान के जैविक 'अवमानव' के अध्ययन में व्यस्त रहने के कारण उसने स्वाभाविक रूप से ही ऐसी अनुभूतियों के प्रति अज्ञान एवं उपेक्षा बरती,

जो मानव के लिए अधिक कल्याणकर होतीं तथा उसमें इन्द्रियातीत प्रेरणाप्रसूत रचनाशक्ति को, विशेषकर नैतिक क्रियाशीलता को, जगा देतीं। इस तथाकथित विज्ञान न अपन भौतिक, यांत्रिक तथा प्रायोगिक पूर्वाग्रह स अन्धे होकर किसी भी अतीन्द्रिय, आध्यात्मिक या धार्मिक भाव की तथा लाओ-त्से एवं बुद्ध, ईसा एवं सन्त पॉल, असीसी के सन्त फ्रांसिस एवं रामकृष्ण, योगियों एवं तपस्वियों, ऋषियों एवं संन्यासी-संघ के संस्थापकों, और अन्य प्रमुख परोपकारियों एवं नैतिक शिक्षकों की तकनीकों की बहुत-कुछ उपेक्षा की। इन लोगों ने जो करोड़ों लोगों का कल्याण किया, उसकी तुलना में विज्ञान-शिक्षकों द्वारा सम्पादित 'समाजीकरण' की सारी प्रक्रियाएँ नगण्य हैं। पूर्वोल्लिखित लोगों द्वारा साधित उदात्त प्रेम की तुलना में उपयोगितावादी एवं मानवतावादियों की दयालुता एवं सदाशयता परोपकार की फीकी छायाएँ मात्र हैं।"

अर्नाल्ड टायन्बी—"मुझे नहीं लगता कि अब से पचास या सौ वर्ष बाद लिखे जानेवाले इतिहास-ग्रन्थों में श्रीरामकृष्ण का उल्लेख नहीं मिलेगा।...मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि भारत एवं विश्व के भावी इतिहास में वर्तमान भारत की व्यावहारिक उपलब्धियों के बारे में काफी कुछ मिलेगा। विशेषकर मैं सामुदायिक विकास के कार्यों के बारे में सोच रहा हूँ। यह भारत के लाखों गाँवों के किसानों को यह अनुभव कराने में सहायता कर रहा है कि वे अपने ही प्रयास से अपना जीवन बहुत-कुछ बेहतर बना सकते हैं। उन्हें बेहतर बनाने का अर्थ है उन्हें आध्यात्मिक रूप से समृद्ध बनाने के उपाय के

रूप में उन्हें भौतिक दृष्टि से सम्पन्न बनाना—और यह हमें वापस धर्म और श्रीरामकृष्ण की ओर ले आता है।"

इस अभिनव सन्देश ने विदेशों के बुद्धिजीवियों पर गहरा प्रभाव डाला है, इसे प्रमाणित करने के लिए यहाँ पर और उद्धरण देने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु मानवसमाज के ऊपर इसके वास्तविक प्रभाव का मूल्यांकन करना अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण देना असम्भव तो नहीं पर कठिन अवश्य है। तथापि अब हम ऐसी कुछ घटनाएँ प्रस्तुत करेंगे।

कुछ वर्षों पूर्व पोप भारत में आये थे, बम्बई में वे कई धर्मनेताओं से मिले। बाद में उन्होंने घोषित किया कि अपने श्रोताओं के मुख पर मैंने स्पष्ट रूप से आध्यात्मिकता की चमक देखी। एक दशाब्दी पूर्व तक एक इतने बड़े कैथलिक अधिकारी के मुख से ऐसी घोषणा की कल्पना तक नहीं की जा सकती थी। शिकागो के डीपॉल विश्वविद्यालय में थियालाजी के कैथलिक प्रोफेसर फादर कैम्पबेल ने १५ सितम्बर १९६८ ई. को कहा था—"विवेकानन्द के कार्य तथा विचार पाश्चात्य आध्यात्मिक विचारधारा को कितने गहरे तथा दूरगामी रूप से प्रभावित करते रहे हैं, इसका हम थोड़ा अनुमान मात्र लगा सकते हैं। मैं समझता हूँ कि स्वामी विवेकानन्द स्वयं भी...ईसाई धर्म में हो रही अधिकांश मानवतावादी प्रवृत्तियों का समर्थन करते, क्योंकि उनका कहना था—'सिद्धान्तों, मतवादों, चर्चों अथवा मन्दिरों को अधिक महत्त्व न दो,' और उदारवादी ईसाई इन भावनाओं को शत-प्रतिशत प्रतिध्वनित करते हैं। स्वामी-

जी ने और भी कहा था कि पहले पुराने धर्मों में उसे नास्तिक कहते थे जो ईश्वर में अविश्वासी था और आज नवीन धर्म में हम उस व्यक्ति को नास्तिक कहते हैं जो अपने आप में तथा मानवता में विश्वास नहीं करता। यह दृष्टिकोण भी आधुनिकतावादी और मानवतावादी ईसाई दृष्टिकोण द्वारा पूर्णतया प्रतिध्वनित होगा।"

भावी विश्वसभ्यता को भारत की देन के बारे में विख्यात इतिहासकार डा० अर्नाल्ड टायन्बी के शब्द कहीं अधिक स्पष्ट और दृढ़ हैं। वे लिखते हैं—"श्रीरामकृष्ण एक ऐसे युग में अवतीर्ण हुए और अपना सन्देश दिया, जहाँ कि उनकी और उनके सन्देश की आवश्यकता थी। यह सन्देश शायद ही किसी ऐसे व्यक्ति के मुख से उच्चरित हो सकता था, जिसका जन्म हिन्दू धार्मिक परम्परा में न हुआ हो।...उन्होंने एक ऐसे विश्व में जन्म लिया था, जो उनके जीवनकाल में ही इतिहास में पहली बार वास्तविक रूप से जुड़कर एक होता जा रहा था। आज भी हम विश्व-इतिहास के उसी सन्धि-काल में से होकर गुजर रहे हैं, परन्तु अब यह बात स्पष्टतर होती जा रही है कि मानवजाति को यदि आत्महनन से बचना है तो जिस अध्याय की शुरुआत पाश्चात्य देशों ने की थी, उसकी परिसमाप्ति भारत को करनी होगी। वर्तमान युग में पाश्चात्य प्रौद्योगिकी ने सम्पूर्ण जगत् को भौतिक स्तर पर एक कर दिया है। परन्तु इस पाश्चात्य निपुणता ने न केवल दूरियाँ समाप्त कर दी हैं, वरन् इसने जगत् के लोगों को एक ऐसे समय विध्वंसक हथियारों से लैस कर दिया जबकि

वे आपस में प्रेम करना सीखे बगैर ही एक दूसरे के निकट आ पहुँचे हैं। मानव-इतिहास के इस अत्यन्त खतरनाक क्षण में भारतीय पथ पर चलना ही मानवता के उद्धार का एकमात्र उपाय है। सम्राट् अशोक और महात्मा गाँधी का अहिंसावाद तथा श्रीरामकृष्ण द्वारा धर्मसमन्वय का साक्ष्य—यहीं पर हमें एक ऐसा दृष्टिकोण एवं मनोभाव प्राप्त होता है, जो सम्पूर्ण मानव-जाति का एक ही परिवार के रूप में विकसित होना सम्भव कर सकता है—और इस अणुयुग में सर्वनाश का यही एकमात्र विकल्प है।"

हमने प्रारम्भ में कहा था कि भारतवर्ष तथा विदेशों में ऐसे भी असंख्य केन्द्र हैं, जो रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन से पृथक् रहकर भी कार्यरत हैं। यद्यपि यह भाव-आन्दोलन श्रीरामकृष्ण, श्रीसारदादेवी तथा स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा उपदेशों पर आधारित है, फिर भी पाश्चात्य देशों में यह वेदान्तवाद के नाम से प्रचलित है। इसमें धर्मान्तिरण जैसा कुछ भी नहीं है; वरन् सभी धर्मों के मूलभूत विज्ञान के रूप में वेदान्त पर निष्ठा रखकर ईसाई, मुसलमान, बौद्ध तथा अन्य लोग भी अपने-अपने धर्म में विश्वास बनाये रख सकते हैं। पाश्चात्य देशों के कुछ पुरुष तथा महिलाओं ने संन्यास-जीवन अपनाया है। विदेशों में अवस्थित स भी असंलग्न (non-affiliated) केन्द्रों के नाम देना सम्भव नहीं, तथापि हम यहाँ टोकियो, होनोलूलू, अमेरिका के कैन्सस सिटी, ब्राजील के साओ पोलो और जिम्बाब्वे के सैलिसबरी केन्द्रों का उल्लेख कर सकते हैं। विदेशों में कार्यरत तथा भारत से यदा-कदा वहाँ जानेवाले

संन्यासियों के आवागमन से उन केन्द्रों के कार्यक्रम जीवन्त रहते हैं। भारत में भी विविध प्रकार के केन्द्र तथा संस्थाएँ हैं। बेलुड़ में स्थित मुख्य केन्द्र के तत्त्वावधान में ही सारदा मठ तथा रामकृष्ण सारदा मिशन का जन्म हुआ। अब वे संन्यासिनियों द्वारा परिचालित स्वतंत्र संस्थाएँ हैं। इसकी प्रमुख संन्यासिनियाँ पहले मुख्य केन्द्र की ही महिला स्वयंसेविकाएँ थीं, जिन्हें बाद में संन्यास-व्रत में दीक्षित किया गया था। अब उनकी संख्या भी काफी हो गयी है तथा उनके शाखा-केन्द्रों में भी वृद्धि होती जा रही है। सारदा संघ भी महिलाओं द्वारा गठित हुआ है। उसका उद्देश्य है रामकृष्ण मठ तथा रामकृष्ण मिशन द्वारा प्रकाशित साहित्य का अध्ययन और तदनुसार जीवन-यापन का प्रयास। तथापि वे अन्य प्रकार के कार्यक्रम भी आयोजित करती हैं। वे विभिन्न स्थानों पर छोटे-छोटे समूहों में नियमित रूप से मिलती हैं, और ऐसे समूहों की संख्या भी काफी अधिक है। उसी रूपरेखा पर युवकों के लिए भी विवेकानन्द युवा महामण्डल का गठन हुआ है। कन्याकुमारी में सुविख्यात विवेकानन्द शिला स्मारक बन जाने के पश्चात् अब विवेकानन्द केन्द्र के नाम से एक नया ही कार्यक्रम शुरू हुआ है, जिसका उद्देश्य अ-संन्यासी कार्यकर्ताओं का एक संघ गठन करना है। शिला स्मारक इतना प्रसिद्ध हो गया है और वहाँ जानेवाले तीर्थयात्रियों की संख्या में इतनी वृद्धि हो रही है कि सरकार ने रेल्वे की बड़ी लाइन को त्रिवेन्द्रम से कन्याकुमारी तक बढ़ा दिया है। केन्द्र ने अरुणाचल प्रदेश में काफी बड़े पैमाने पर शैक्षणिक कार्य प्रारम्भ किया है।

यहाँ पर स्वामी अभेदानन्द द्वारा स्थापित श्रीराम-कृष्ण वेदान्त मठ का भी उल्लेख किया जा सकता है, जिसकी अब कई शाखाएँ हैं और जो मुख्यतः धार्मिक एवं सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशन में निरत है। धर्मान्तरण के विरुद्ध संघर्ष करने अथवा स्वामी विवेकानन्द के नाम पर राजनीतिक एवं सामाजिक विचारों के प्रसार के उद्देश्य से भी कुछ अन्य संस्थाएँ प्रकाश में आयी हैं। उनमें से किसी का भी यहाँ नामोल्लेख करना उचित न होगा।

ये उदाहरण अन्य दूसरे अ-संलग्न (unaffiliated) केन्द्रों का महत्त्व कम करके आँकने के उद्देश्य से नहीं वरन् यह दिखाने के लिए दिये गये हैं कि यह सन्देश विभिन्न व्याख्याओं एवं कार्यप्रणालियों के माध्यम से भी उपयोग में लाया जा रहा है। रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के हम संन्यासी एवं भक्तगण इस भाव-आन्दोलन के सर्वांगीण इतिहास के अध्ययन में इतने अधिक उत्सुक इसलिए हैं कि हम चाहते हैं कि यह सन्देश शीघ्रातिशीघ्र तथा व्यापकतम स्तर पर प्रसारित हो जाय। पर हमें इस बात की भी चिन्ता है कि इसका सच्चा भाव तथा कार्यप्रणाली सुरक्षित रहे, जिससे जनसमाज को किसी प्रकार दिग्भ्रमित न किया जा सके और रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन द्वारा किये जा रहे रचनात्मक कार्यों में बाधा या दुष्प्रभाव न आए। सच कहें तो संघर्ष एवं विकृतीकरण की सम्भावना से बिल्कुल इनकार नहीं किया जा सकता, तो भी हम स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि अधिकांश असंलग्न केन्द्र बेलूड़ मठ के प्रधान केन्द्र के साथ

सहयोग करते हुए रामकृष्ण संघ के संन्यासियों के निर्देशन में ही कार्यरत हैं।

इस प्रकार रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन जगत् को मानव-विकास का प्रकृत पथ प्रदर्शित करते हुए अपनी आन्तरिक क्षमता से फैलता जा रहा है। जगत् ऐसे सन्देश के लिए भूखा है और इस सन्देश की चरम सफलता में कणमात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता, क्योंकि उपनिषद् की वाणी है—'सत्यमेव जयते नाऽनृतम्'—केवल सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं।

O

"श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के निकट मैं कितना ऋणी हूँ यह भाषा में किस प्रकार प्रकट करूँ? उनके पुनीत प्रभाव की छाया में मेरे जीवन का प्रथम उन्मेष साधित हुआ। निवेदिता के समान मैं भी मानता हूं कि रामकृष्ण और विवेकानन्द एक ही अखण्ड व्यक्तित्व के दो रूप हैं। आज यदि स्वामीजी जीवित होते, तो वे निश्चय ही मेरे गुरु होते—अर्थात् उन्हें मैं अवश्य ही अपने गुरु के रूप में ग्रहण करता। जो हो, जब तक जीवित रहूँगा, तब तक रामकृष्ण-विवेकानन्द का एकान्त अनुगत और अनुरक्त बना रहूँगा यह कहने की आवश्यकता नहीं।" —नेताजी सुभाषचन्द्र बोस

रामकृष्ण संघ की समस्याएँ

स्वामी आत्मस्थानन्द

(सहायक महासचिव, रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ)

(दिसम्बर १९८० में बेलुड़ मठ में हुए रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के द्वितीय महासम्मेलन के नौवें सत्र में दिया गया व्याख्यान। प्रस्तुत लेख बेलुड़ मठ द्वारा प्रकाशित Ramakrishna Math and Ramakrishna Mission Convention 1980 : Report से साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है। अनुवादक हैं स्वामी विदेहात्मानन्द, जो रामकृष्ण मठ, नागपुर में कार्यरत हैं। —स०)

इस अपराह्न की सभा का विषय कोई नया नहीं है, अत: इस सम्बन्ध में कोई अनावश्यक आशंका नहीं होनी चाहिए। यह एक सर्वज्ञात तथ्य है कि धरती पर जब कभी अव्यवस्था तथा विघटन का साम्राज्य फैल जाता है, तब भगवान् अपने ही प्रतिरूप में निर्मित मानव के धर्म की रक्षा के लिए नररूप में अवतीर्ण होते हैं। भौतिकवादी सभ्यता की चकाचौंध से उत्पन्न सघन अज्ञान की मेघराशि को नष्ट करने के लिए तथा दिव्य जीवन की महिमा और गरिमा को पुन: प्रतिष्ठित करने हेतु श्रीरामकृष्ण नामक अद्‍भुत एवं अतुल्य आध्यात्मिक आलोक को पाकर जगत् धन्य हुआ है।

पिछले चार दिनों में हमने सुना कि श्रीरामकृष्ण के प्रादुर्भाव के साथ ही किस प्रकार हमारे आन्दोलन का उद्‍गम हुआ, किस प्रकार उन्होंने इस संघ की स्थापना की। फिर आपने इस भाव-आन्दोलन द्वारा प्रेरित तथा संघ द्वारा संचालित कार्यों के बारे में भी सुना और उन विचारों एवं आदर्शों के प्रभाव के सम्बन्ध

में भी, जो रामकृष्ण-सारदा-विवेकानन्द इस दिव्य त्रिमूर्ति के द्वारा जिये गये थे। वस्तुतः शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक--मानव-कल्याण के इन सभी क्षेत्रों में पूरे विश्व में संघ ने अत्यल्प अवधि में पर्याप्त उपलब्धि की है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि रामकृष्ण घटना ने अपने सीमित साधनों के बावजूद एक महान् सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक पुनर्जागरण के स्रोत का कार्य कैसे किया है यह समझाया नहीं जा सकता। और यह तो निश्चित ही है कि अभी रामकृष्ण युग का प्रारम्भ मात्र हुआ है।

यद्यपि मानवीय दुःख-दुर्दशा से पिघलकर ईश्वर इस धरती पर आते हैं, तथापि उनके दिव्य मिशन को लागू करने का कार्य असंख्य बाधा-विघ्नों से भरा रहता है। परन्तु वह कारगर अवश्य होता है—शान्तिपूर्वक, सुनिश्चित और फलप्रद रूप में कारगर होता है। बल्कि वास्तव में तो जो समस्याएँ इसमें सर्वाधिक बाधा डालती हैं, वे ही भगवान् के सर्वोत्कृष्ट भाव को प्रस्फुटित करने में साधक हो जाती हैं। मानवीय समस्याएँ अनिश्चित होती हैं, परन्तु सत्यं-शिवं-सुन्दरं-रूप ईश्वर से उत्थित दैवी इच्छा का पूर्ण होना अवश्यम्भावी है। आइए, उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में हम देखें कि आज रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के समक्ष किस तरह की समस्याएँ हैं।

प्रथम महासम्मेलन के अवसर पर स्वामी सारदानन्दजी ने अपने व्याख्यान में कहा था कि हमारी तरह के भाव-आन्दोलन तीन विभिन्न स्तरों से होकर गुजरते हैं—विरोध, उपेक्षा और स्वीकृति। अन्त में

मिलती है प्रशस्ति। हमने इन तीन स्तरों से उत्पन्न होनेवाली परिस्थितियों का तो अनुभव किया ही है, पर मैं यह भी बताना चाहूँगा कि एक अन्य प्रकार की प्रवृत्ति हमारे देखने में आयी है और वह है गलत-फहमी की अवस्था। आज जब हम सेवा के विविध क्षेत्रों में निरत हैं—ये सेवाकार्य चाहे कितने भी प्रशंसनीय हों—कुछ लोगों का आरोप है कि हम रामकृष्ण-विवेकानन्द का अनुसरण नहीं कर रहे हैं। इसके विपरीत, कुछ दूसरे लोग जब हमें मन्दिरों अथवा वनों और गुफाओं में तपस्यारत देखते हैं, तो उन्हें लगता है कि हम स्वामी विवेकानन्द के साथ विश्वास-घात कर रहे हैं। आज भी परम्परावादी एवं रूढ़ि-ग्रस्त समुदाय के कुछ ऐसे गृही और संन्यासी लोग हैं, जो हमें नगरीय तथा उपनगरीय क्षेत्रों में रहते देखकर; विद्यालय एवं अस्पताल चलाने में व्यस्त देखकर; न्यायालय, दफ्तर एवं बैंक में जाते देखकर ; बस, कार, रेल तथा वायुयान से यात्रा करते देखकर; सभी प्रकार के नर-नारियों से मिलते-जुलते देखकर बहिर्मुखी समझते हैं। यह बात बहुतों के ध्यान में नहीं आती कि हमारा प्रत्येक कार्य, हमारा सभी प्रकार का उद्यम, यही क्यों हमारा प्रत्येक श्वास निःस्वार्थ प्रेम द्वारा उद्भूत है, हमारे परमप्रिय प्रभु की सेवा है, समर्पण है। उन्हें तो लगता है कि हम देवमानव श्रीरामकृष्ण के सच्चे अनुगामी नहीं हैं।

बहुधा यह बात भुला दी जाती है कि श्रीरामकृष्ण न केवल धर्मसमन्वय की प्रतिमूर्ति थे, अपितु वे चारों योगों की भी समन्वयमूर्ति थे। अतः उनके सच्चे

अनुयायी को ज्ञान, भक्ति, कर्म और योग चारों को सम्मिश्रित करना होगा। जीव ही शिव है और इस शिव-भाव से जीव की सेवा करने पर आध्यात्मिक उपलब्धियाँ होती हैं—इस अमोल उपदेश से प्रेरित होकर उनके अनुयायी नर में नारायण की सेवा रूपी साधना करते हैं। परन्तु कर्म में पूजा का भाव तभी आता है, जब तपस्या, ध्यान, प्रार्थना आदि साधनाओं के द्वारा हमारा चरित्र गठित होता है। यही हमारे सिद्धान्त का सार है। श्रीरामकृष्ण के इस अनूठे सन्देश की ऊँचाई और गहराई का लोगों को समय आने पर ही बोध होगा। वस्तुतः रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा में कुछ भी नकारा नहीं गया वरन् सब कुछ स्वीकारा गया है। रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा न केवल मानव-जीवन की सभी आकांक्षाओं एवं उद्यमों को अपने भीतर लेती है, अपितु वह उन सबका सुन्दरतापूर्वक संयोजन एवं सम्मिश्रण कर मनुष्य को चरम आध्यात्मिक अनुभूति के लिए तैयार करती है। ऐसी अनुभूति पाकर मानव कृतकृत्य हो जाता है और उसका अनुभूति-जगत् भी दिव्य हो जाता है। यह एक नवीन सन्देश है और यह स्वाभाविक ही है कि एक ऐसे जगत् में जहाँ सदा से ही ईश्वर और मानव में, धार्मिक और भौतिक में, दिव्य और जागतिक में भेदभाव किया गया है, ऐसे विचार जड़ पकड़ने में समय लेते हैं। यह भी सत्य है कि बहुत से लोगों द्वारा स्वीकृत एवं प्रशंसित तथा कुछ लोगों द्वारा निन्दित हमारा यह संगठन इस गलतफहमी की समस्या का सामना करता है। रामकृष्ण-

विवेकानन्द-भावधारा मानवजाति के लिए एक सर्वाधिक सशक्त आदर्श प्रस्तुत करती है। इसका सम्बन्ध सर्वांगपूर्ण मानव से है। मनुष्य के पूर्णता-प्राप्त हो जाने पर ही इसका कार्य समाप्त होता है। मनुष्य जहाँ कहीं भी है, वहीं से यह उसकी निरन्तर सहायता करती है तथा उसे उन्नत करने का प्रयास करती है। इसे व्यावहारिक वेदान्त कहते हैं––ऐसा वेदान्त जो खेत एवं कारखाने में, चरागाह एवं जंगल में, मन्दिर एवं गुफा में, ध्यान एवं कर्म में, स्वप्न एवं जाग्रत् में सदा सर्वत्र व्यवहार में लाया गया है। वस्तुतः इसका अर्थ है ईश्वर में रहना, कर्म करना और उन्हीं में अपना हृदय लगाये रखना––यही है रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन का आदर्श। यदि हम श्रीरामकृष्ण के अनुयायी हैं, तो यह कहना नहीं चलेगा कि यह बहुत उच्च और अव्यावहारिक आदर्श है। यही श्रीरामकृष्ण द्वारा बताया गया जीवन-दर्शन है। चूँकि हम प्रौद्योगिकी, विज्ञान और उद्योग के युग में जीवनयापन कर रहे हैं, केवल यही आदर्श वास्तविक आध्यात्मिक जीवन का गठन कर सकता है। परन्तु उनके सन्देश की यह केन्द्रीय विषयवस्तु कितने लोग समझ सके हैं? इसीलिए हमारे बारे में गलतफहमी है।

श्रीरामकृष्ण के द्वारा उपदिष्ट, शिक्षित, प्रशिक्षित और निर्दिष्ट होकर स्वामी विवेकानन्द ने इस संगठन को धर्म की नींव पर खड़ा किया। श्रीरामकृष्ण ने घोषणा की कि ईश्वरोपलब्धि ही जीवन का ध्येय है और स्वामी विवेकानन्द ने बताया कि आत्मानुभूति, अपने वास्तविक स्वरूप की खोज, आत्मा की

दिव्य असीमता का अनुभव—इसी में मानव की मुक्ति निहित है। इस संगठन का सारा कार्यक्रम इसी दिशा में नियोजित है। तात्पर्य यह कि धर्म को ही रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन का आधार माना गया है। अतः यह संगठन पूर्णतया आध्यात्मिक है। रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन स्वभाव से ही पूर्णतया अराजनीतिक है। मूलतः धार्मिक एवं निष्ठापूर्वक अराजनीतिक होकर भी यह भाव-आन्दोलन मानवसमाज के सभी वर्ग के लोगों के हित के लिए सर्मपित होने के कारण, जितने भी प्रकार से सेवा बन पड़ती है, तथाकथित लौकिक गतिविधियों में संलग्न दिखाई पड़ता है। ऐसे लोग जो इस आन्दोलन के विचारों एवं आदर्शों में श्रद्धा रखते हैं तथा इसे भारत एवं जगत् के कल्याण में सक्षम मानते हैं, वे आर्थिक तथा अन्य प्रकार से हमारी सहायता करते हैं। इस प्रकार हमारी यह छोटी सी संस्था पिछले ८३ वर्षों की अवधि में वर्तमान स्थिति तक पहुँची है, जिसमें अब भी केवल मुट्ठी भर ही संन्यासी हैं। परन्तु कैसी विडम्बना की बात है कि सुधारवादी या चरमपन्थी हमें या तो समाजवादी समझ बैठे हैं या बूर्जुआ। वस्तुतः हम दोनों ही नहीं हैं। हमारा तो आदर्श है मनुष्य की पूरी तरह से मुक्ति—क्षुधा से मुक्ति, अज्ञान से मुक्ति, निर्धनता से मुक्ति, दुःख से मुक्ति। रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन मानव की मुक्ति के निमित्त संगठित एवं कार्यरत है—उस सम्पूर्ण मुक्ति के लिए जो जीवन के चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—की प्राप्ति से ही पूरी होती है। रामकृष्ण-भाव-

आन्दोलन 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' इस महा-मन्त्र से प्रेरित एवं कार्यशील है। परन्तु हम जानते हैं कि अनेक क्षेत्रों में इस संगठन के बारे में कितना भ्रम फैला हुआ है। यह अत्यन्त खेद की बात है कि यह कल्पित और निराधार भ्रम हमारे कार्य की प्रगति में बाधक होता है।

समर्पण और बलिदान के बिना कोई भी महान् कार्य सम्पन्न नहीं होता। रामकृष्ण-विवेकानन्द के उदात्त विचारों एवं आदर्शों को रूपायित करनेवाले संन्यासियों की संख्या अतीव लघु है। युवा-वृद्ध सब को मिलाकर उनकी संख्या हजार से थोड़ी ही अधिक होगी। अब तक आपने हमारे कार्यों एवं हमारे महान् उत्तरदायित्व के बारे में सुना। फिर आज हम एक द्रुतगामी समाज में निवास कर रहे हैं। वैज्ञानिक एवं तकनीकी उपलब्धि का विश्व के प्रत्येक अंश पर कमो-बेश प्रभाव पड़ रहा है, अतः कुशल सेवा के लिए हमें और भी योग्य, सुशिक्षित एवं विद्वान् संन्या-सियों की आवश्यकता है। जीवन के अत्यधिक जटिल हो जाने के कारण जीवन-उन्नयन की सेवा भी अधिक सुयोग्य कर्मियों की आवश्यकता पर बल देती है। अपनी मुक्ति पा लेना एक बात है और दूसरों की मुक्ति के लिए कार्यक्षम होना बिल्कुल अलग बात। स्वामीजी सैकड़ों की संख्या में युवक चाहते थे, जबकि युवकगण त्याग का जीवन अपनाने में संकोच कर रहे हैं और इस प्रकार अपने वर्तमान कार्यों को भी सन्तोषजनक रूप से चलाने के लिए हमारे पास कुशल मानवशक्ति का अत्यन्त अभाव है।

दूसरी ओर विस्तार के लिए संघ पर निरन्तर जोर डाला जा रहा है। शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, संस्कृति और धर्मप्रचार—वस्तुत: मानवीय कल्याण के हर क्षेत्र में विस्तार की माँग निरन्तर हो रही है। वनों-पर्वतों में फैले पिछड़े इलाकों की उन्नति क लिए सेवा-कार्यों में विस्तार की अतीव आवश्यकता से कोई इनकार नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त दूर-दराज़ के देशों के लोगों द्वारा भी वर्षों से धर्म-प्रचारक भेजने की निरन्तर माँग की जाती रही है, और जब तक हम वहाँ संन्यासियों की नियुक्ति नहीं कर पाते, हम कैसे निश्चिन्त हो सकते हैं ! जब हमारे अन्तरंग भक्तों एवं मित्रों द्वारा रामकृष्ण-विवेकानन्द के विचारों एवं आदर्शों पर निर्मित सुन्दर एवं सुगठित केन्द्र हमें सौंपने का प्रस्ताव आता है और हम उसे स्वीकार नहीं कर पाते, तब उसके फलस्वरूप होनेवाली हमारे हृदय की पीड़ा एवं निराशा की आप कल्पना नहीं कर सकते। जब हम ठाकुर के पार्षदगण की स्मृतियों से जुड़े आँटपुर, शिकरा और बारासात जैसे महत्त्वपूर्ण केन्द्र संघ की व्यवस्था में नहीं ला पाते, तो सोचिए हमारी भाव-नाएँ कितनी आहत होती होंगी। मित्रो और भक्तो! हमारे सामने समर्पित कार्यकर्ताओं की संख्या की, हमारे कार्य के माँग की और लोगों की वास्तविक आवश्यकताओं की समस्याएँ बड़ी गम्भीर हैं। इसका समाधान हमारे संस्थापक स्वामी विवेकानन्द के निम्न-लिखित आह्वान का उत्तर देने में निहित है—"लाखों स्त्री-पुरुष पवित्रता के अग्निमन्त्र में दीक्षित होकर,

भगवान् के प्रति अटल विश्वास से शक्तिमान बनकर और गरीबों, पतितों तथा पददलितों के प्रति सहानुभूति से सिंह के समान साहसी बनकर इस सम्पूर्ण भारत देश के एक छोर से दूसरे छोर तक सर्वत्र उद्धार के सन्देश, सेवा के सन्देश, सामाजिक उत्थान के सन्देश और समानता के सन्देश का प्रचार करते हुए विचरण करेंगे।"

हमारी जैसी संस्थाओं के लिए धनाभाव एक आम बात है, तथापि यह उल्लेखनीय है कि उदार जनता तथा केन्द्र एवं राज्यों की कल्याणकारी सरकारों की उदारता से अब परिस्थिति स्वाधीनता-पूर्व के दिनों की तुलना में काफी अच्छी है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि हमारे पास धन का प्राचुर्य है और हम खुले हाथों से व्यय कर सकते हैं। ऐसे भी केन्द्र हैं, जहाँ जीवनधारण तक कठिन हो जाता है। हमारे जो बन्धु इन केन्द्रों में कार्य करते हैं, उन्हें काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यह बात लोगों को मालूम नहीं है। हमारी बड़ी-बड़ी चिकित्सकीय, शैक्षणिक, सांस्कृतिक या सेवामूलक संस्थाएँ देखकर ही लोग अपनी धारणा बना लेते हैं। सबसे ज्यादा भ्रम तो फैला है श्रीरामकृष्ण के नाम पर देश भर में बने भव्य मन्दिरों के कारण। यहाँ पर स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इनका निर्माण संघ के गृही या संन्यासी कार्यकर्ताओं के लिए नहीं वरन् समाज के लिए, जनता के लिए हुआ है—बहुजन हिताय बहुजन सुखाय। आत्मत्यागी कर्मीगण बिना किसी व्यक्तिगत दावे के—प्रशंसा या नाम के लिए भी नहीं

वरन् केवल ट्रस्टी के रूप में—कार्य करते हैं। वे ठाकुर की पूजा के भाव में रहते तथा उनकी प्रसन्नता के हेतु कार्य करते हैं और उनका विश्वास है कि इसी में उनका तथा जगत् का हित निहित है। यदि हमारी द्विविध संस्थाओं की योजनाओं एवं कार्यों के लिए वास्तविक रूप से उदार एवं समुचित धनराशि प्राप्त होती, तो हमारे कार्य का परिमाण और भी बड़ा होता।

देश की अर्थ-व्यवस्था का रूप तीव्र गति से बदल रहा है। राजा और महाराजा, जमींदार और जोतदार—इनके संरक्षण के दिन अब नहीं रहे। अब समाज-सेवी संस्थाओं को अपने कार्य में आर्थिक सहयोग के लिए मुख्यतः सरकारों तथा उद्योग-समूहों पर निर्भर करना पड़ता है। सरकारी धन सुरक्षा की भावना तो लाता है, परन्तु साथ ही ऐसे नियम और कानून भी लाता है, जो व्यवस्थापन में समस्याएँ खड़ी करते हैं। कुछ लोग जो भले ही मठ और मिशन की योजनाओं के रूपायन में कार्यरत हैं, यहाँ तक सोचते हैं कि चूँकि ये संस्थाएँ आंशिक अथवा पूर्ण रूप से सरकारी अनुदान पर बनी हैं एवं कार्यरत हैं, इन्हें अपनी मूल-संस्था के विचारों, आदर्शों, सिद्धान्तों, नीतियों एवं आचारों को छोड़कर सरकारी नीतियों एवं सिद्धान्तों का अनुसरण करना चाहिए। इसके फलस्वरूप काफी मुश्किलें पैदा होती हैं। कोई संस्था भला पराये विचार एवं आदर्श पर कैसे चल सकती है?

कभी कभी ऐसी भी अटकल लगायी जाती है कि निधि का कर्मचारियों में सदा ठीक-ठीक वितरण नहीं होता। हमारे हिसाब-किताब खुले हैं, जो सुयोग्य

अधिकृत लेखाकारों द्वारा जाँचे जाते हैं, अतः ऐसे गलत निष्कर्ष निकालने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। लेखा-बहियों के सूक्ष्म निरीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे अधिकांश केन्द्र बड़ी आर्थिक कठिनाई में चलते हैं और संघ के ऐसे भी अनेक केन्द्र हैं, जो अर्थाभाव के कारण बड़ी मुश्किल से चालू हैं। अपने सहकर्मियों एवं सहयोगियों को सुख-सुविधा में रखना सदा से ही हमारा आदर्श रहा है। परन्तु सीमित आर्थिक साधनों की समस्या को नजर-अन्दाज नहीं किया जा सकता। कुछ केन्द्रों ने आपत्काल के लिए तथा स्थायित्व की दृष्टि से काफी प्रयास के द्वारा कुछ स्थायी निधि जमा की है और कोई भी उसे खर्च कर डालने का सुझाव न देगा।

आजकल सामान्यतया सार्वजनिक दान बड़े संकुचित दायरे में सिमट गये हैं और उनके पीछे भी स्वार्थ दीख पड़ता है। निःस्वार्थता के आदर्श द्वारा परिचालित मठ और मिशन के पास पुरस्कार के रूप में देकर खुश रखने के लिए आध्यात्मिक सन्तुष्टि को छोड़ और कुछ नहीं है और इसके चहेतों की संख्या अति अल्प है। इसलिए स्वामीजी द्वारा इन युग्म संस्थाओं की स्थापना के समय दिये गये प्रतिमानों के अनुसार, स्वाधीनतापूर्वक इनके परिचालन के लिए यथोचित धन की व्यवस्था करना जटिल काम होता जा रहा है।

संघ के सदस्य समाज के विविध स्तर, पृष्ठभूमि तथा परिवेशों से आते हैं, तो भी वे एक सामान्य आदर्श एवं लक्ष्य की डोर से जुड़े हैं। जीवन तथा कर्म के उच्च आदर्श के बावजूद स्पष्टतः ही विचार-

धारा, दृष्टिकोण तथा कर्मपद्धति में व्यक्तिगत विविधता अवश्यम्भावी है। फलस्वरूप जिस प्रकार हमारी संस्थाओं से कार्यकुशलता, उत्कृष्टता, कर्मठता, उदारता एवं सफलता अभिव्यक्त होती है, वैसे ही व व्यक्तिगत तथा सामाजिक कठिनाइयाँ, समस्याएँ, दुर्बलताएँ, संघर्ष एवं असफलताएँ भी प्रकट करती हैं। धन और सुविधाओं में वृद्धि आलस्य एवं शिथिलता को जन्म देती है, समृद्धि के फलस्वरूप जीवन तक निरर्थक हो जाता है। कुछ विदशी राष्ट्रों की भौतिक समृद्धि तथा वहाँ के विशेषकर मध्य तथा उच्च मध्यवर्ग की आर्थिक प्रगति के फलस्वरूप दुर्भाग्यवश समाज में अनुशासनहीनता, कर्तव्य के प्रति उदासीनता तथा उत्तरदायित्वों एवं उच्चतर मूल्यों के प्रति अश्रद्धा फैल रही है। हम भी इन मानवीय तथा सामाजिक व्याधियों का कड़वा अनुभव पा रहे हैं। हमारा आदर्श हमसे मन, वाणी एवं कर्म की पूर्ण पवित्रता के साथ ही पूर्ण समर्पण एवं सदा सावधानी की अपेक्षा रखता है। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा संगठन के स्तर पर दृढ़तर संकल्प एवं कर्म-सामंजस्य ही शुद्ध तथा उचित रूप में कार्यकर होकर हमें अपने अभीष्ट की ओर ले जा सकेगा।

बड़ी संख्या में एकत्र श्रीरामकृष्ण की सन्तानो! अपना विनम्र कथन समाप्त करने से पूर्व मैं और भी एक खेदजनक पक्ष का उल्लेख करना चाहूँगा, जो हमारी निःस्वार्थ सेवा के कुछ ऐसे क्षेत्रों में जहाँ कि यह सेवा अतीव आवश्यक है, बाधा और संघर्ष उत्पन्न करने में प्रवृत्त है। मेरा तात्पर्य उन राजनीतिक एवं धार्मिक निहित स्वार्थों से है, जो विचारहीन होकर

हमारी संस्थाओं के विरोधी क्रियाकलापों में लिप्त हैं। यह सचमुच ही दुःख की बात है कि स्वाधीनता के तीन दशक बाद भी देश के कुछ इलाकों में, ग्राम्य भारत में जन्मे इस संगठन को विदेशी तथा जनविरोधी कहकर बदनाम करने का प्रयास किया जा रहा है। क्या पूर्वग्रह के बिना हमें कोई विदेशी मान सकता है ? या फिर हम और जनविरोधी ? कदापि नहीं। फिर भी हम उत्पीड़ित किये जाते हैं ! यद्यपि ऊँचे एवं नीचे, बौद्धिक एवं राजनीतिक, आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक सभी क्षेत्रों में हमारी सेवाओं की अतीव आवश्यकता महसूस की जाती है, तो भी शायद ही कुछ लोग मिलेंगे, जो खड़े होकर सत्य का दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन कर सकें। वस्तुतः यह खेद की बात है कि एक सच्चे लोकतान्त्रिक राष्ट्र में शुद्ध और सच्चे लोग सिर्फ इसलिए अकेले रह जाएँ कि वे अपने मूल-भूत सिद्धान्तों के साथ समझौता नहीं कर सकते-- मात्र इस कारण कि उन्हें पवित्रता से लगाव है और वे उन आसुरी एवं स्वार्थी उपायों का सहारा नहीं ले सकते, जो बहुधा समाज के चिरन्तन कल्याण को ताक पर रखकर तात्कालिक लाभ की प्राप्ति के लिए अपनाये जाते हैं।

इस सन्दर्भ में हमें रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा को आगे बढ़ाने में गृही भक्तों, मित्रों एवं प्रशंसकों की भूमिका पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। सच कहें तो हमारे कार्य में उनका सहभाग शिथिल सा ही है। हाँ, यह बात और कि वे धन देकर हमारे कार्य में सहयोग करते हैं, परन्तु इतना ही

यथेष्ट नहीं । मिशन की जनरल रिपोर्ट संघ के इतिहास के सन्दर्भ में इसके द्विविध आदर्श का उल्लेख करती है—"श्रीरामकृष्ण द्वारा उपदिष्ट एवं उनके अपने जीवन द्वारा प्रत्यक्ष दिखाये हुए वेदान्त के प्रचार के लिए एक ऐसे संन्यासी-दल का गठन करना जो गृही शिष्यों के साथ मिलकर जाति, वर्ण, पन्थ से निरपेक्ष सब को ईश्वर का वास्तविक प्रकाश समझते हुए मिशनरी तथा जनहितकर कार्य चलाएगा।"

रामकृष्ण-विवेकानन्द के भक्तों, मित्रों एवं प्रशंसकों का यह कर्तव्य है कि वे विज्ञान, प्रौद्योगिकी, उद्योग तथा अतीव राजनीतिक अव्यवस्था एवं असन्तोष की चुनौतियों का सामना करने के लिए समर्पण, सेवा, शान्ति, आनन्द और सन्तोष के साथ एक सच्चे उत्साही मिशनरी का आदर्श जीवन बिताएँ। ऐसे जीवन के द्वारा लोगों की हमारे विचारों एवं आदर्शों में श्रद्धा और भी दृढ़ होगी, जिसके फलस्वरूप और भी अधिक लोग हमारी तरफ आकृष्ट एवं उपकृत होंगे, और इसके साथ ही सामाजिक अन्याय, पक्षपात, असन्तुलन तथा उसके साथ चलनेवाले संघर्षपूर्ण दृष्टिकोण का भी संकट दूर होगा। श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा ने चिरन्तन मूल्यों की आधारशिला पर एक नवीन विश्व-सभ्यता का श्रीगणेश किया है। स्वामीजी ने एक ऐसे विश्व की कल्पना की थी, जो समन्वय एवं पवित्रता, प्रेम एवं समझ, आशा एवं विश्वास के बन्धन से जुड़ा होगा। इस भावधारा को अपना यह महान् लक्ष्य बनाये रखना होगा।

मित्रो ! इन तुच्छ मतभेदों को छोड़िए, आइए

हम पुनः समर्पित होकर, सम्बद्धता, दृढ़ता तथा एकता के लिए कार्य करने का नवीन संकल्प लेकर, उस महत्तम उद्देश्य को और भी सफल करने के लिए एक होकर खड़े हो जायँ, जिसके निमित्त भगवान् का रामकृष्ण-विवेकानन्द के रूप में आगमन हुआ था। यह संघ आगामी एक हजार वर्ष तक मानवजाति के सर्वांगीण कल्याण में निरत रहेगा—स्वामीजी की यह भविष्यवाणी पूर्णतः सत्य है। और जो लोग उनके अनुयायी होने का दावा करते हैं, उनके लिए समय आ गया है कि वे स्वामीजी की इस वाणी को मानसिक, भावनात्मक तथा भौतिक रूप से सत्य सिद्ध करें। उन्होंने बताया था—"हमें तीन चीजों की आवश्यकता है—महसूस करने को हृदय, कल्पना करने को बुद्धि तथा कर्म करने को हाथ।"

हम अविश्वासी लोगों को अपनी श्रद्धा पुनः प्रतिष्ठित करनी होगी और इस आदर्श एवं लक्ष्य को सामने रखकर कर्म में लग जाना होगा। खेत तैयार है, यंत्र हमें मिल चुके हैं, समस्याएँ हल होंगी ही। आइए हम नये तथा बृहत्तर खेतों में हल चलाते चलें। सफलता अवश्यम्भावी है। सभी बाधाओं तथा समस्याओं के लिए रामबाण ओषधि है—

कुर्मस्तारकचर्वणं त्रिभुवनमुत्पाटयामो बलात्।
किं भो न विजानास्यस्मान् रामकृष्णदासा वयम्॥

—'हम तारों को चूर चूर कर डालेंगे, त्रिभुवन को बलपूर्वक उखाड़ फेकेंगे। क्या तुम हमें जानते नहीं, हम श्रीरामकृष्ण के दास जो हैं!'

वाह गुरु की फतह! ○

श्रीरामकृष्ण के प्रति श्रद्धांजलियाँ

(चार विश्वप्रसिद्ध पश्चिमी मनीषियों की)

(१)

एफ. मैक्स मूलर

अभी कुछ समय से यह प्रश्न कई बार पूछा गया है कि 'महात्मा' क्या है और 'संन्यासी' क्या है? 'महात्मा' संस्कृत भाषा का एक अत्यन्त सामान्य शब्द है और उसका शब्दार्थ होता है महान् आत्मा, उच्चाशय व्यक्ति, कुलीन पुरुष। उसका उपयोग किसी के प्रति आदर व्यक्त करने के लिए होता है, जैसा कि हम 'नोबल' (कुलीन) या 'रेवरेंड' (आदरणीय) शब्द के द्वारा व्यक्त करते हैं। पर भारत की प्राचीन भाषा संस्कृत में उसे संन्यासियों को परिभाषित करने के लिए एक तकनीकी शब्द के रूप में भी स्वीकार किया गया है। संन्यासी वह है, जिसने सब कुछ का त्याग और समर्पण कर दिया है—अर्थात् जिसने समस्त सांसारिक स्नेह-सम्बन्धों को काट दिया है। भगवद्गीता (५/३) में हम पढ़ते हैं—'ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्यति न कांक्षति' (उसे संन्यासी जानना चाहिए, जो न द्वेष करता है, न कामना)। मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मण का जीवन चार आश्रमों में विभाजित था—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। यह चौथा आश्रमी संन्यासी कहलाता था। इस शब्द का अँगरेजी में अनुवाद कठिन है, पर भारत में हर व्यक्ति के लिए उसका अर्थ सुस्पष्ट है...। इस बात को नकारा गया है कि भारत में कोई संन्यासी है भी, और एक अर्थ में यह सही है। यदि मनु द्वारा बतायी गयी जीवन की प्रणाली कभी रही भी हो, तो दीर्घकाल से वह लुप्त हो गयी है...

(तथापि) सभी युगों में, बौद्ध सुधारयुग के पहले और बाद में भी, हमें ऐसे व्यक्ति मिलते हैं, जिन्होंने सारे सामाजिक बन्धन काट दिये थे, जो अपने परिवारों और समाज को तिलांजलि दे अकेले जंगलों या गिरि-गुफाओं में रहते थे, जो सारा सुखभोग त्यागकर न्यूनतम भोजनादि में जीवन का निर्वाह करते और बहुधा ऐसे कृच्छ्रसाधन करते, जिनके बारे में पढ़कर या जिनके चित्र या फोटो देखकर हमें कँपकँपी छूट जाती है। ऐसे मनुष्य स्वाभाविक ही पावित्र्य की एक प्रभामण्डल से घिरे रहते और उनकी अल्प आवश्यकताएँ उनके पास आनेवाले अथवा उनके उपदेशों से लाभ उठानेवाले लोगों के द्वारा पूरी कर दी जातीं। इनमें कुछ सन्त—बहुत से नहीं—पण्डित होते और वे लोग अपनी प्राचीन विद्या के उपदेशक बन जाते। इनमें कुछ कपटी और छली भी होते और ऐसे लोगों ने सारे संन्यासीवर्ग को कलंकित किया है। पर इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि ऐसे संन्यासी भी थे, और आज भी हैं, जिन्होंने सचमुच ही वासनाओं के जाल को काट डाला है, शरीर पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है और मन को आश्चर्यजनक रूप से पूर्णतः संयमित कर लिया है। ...सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि ये ही व्यक्ति, ये तथाकथित संन्यासीगण, बड़े विद्वान् और पण्डित भी होते हैं...(पर) वर्तमान पीढ़ी के संन्यासियों को देखने पर हमें उनमें न तो विशेष विद्वत्ता दिखाई देती है, न वे मौखिक रूप से शास्त्रों के ज्ञाता ही दिखते हैं, न उनमें विचारों की मौलिकता या पाण्डित्य ही दिखता है।...उदाहरणार्थ, दयानन्द सरस्वती को लें। उन्होंने

ब्राह्मणों में कुछ सुधार लाने की चेष्टा की। वे एक अर्थ में विद्वान् थे। उन्होंने ऋग्वेद पर संस्कृत भाषा में एक भाष्य भी लिखा और वे धाराप्रवाह संस्कृत बोल सकते थे। ऐसा कहा जाता है कि उन्हें विष दे दिया गया, क्योंकि उनके सुधार ब्राह्मणों के लिए जोखिम के साबित हो रहे थे। पर उनकी समस्त रचनाओं में इसको छोड़कर कि उन्होंने वेद के शब्दों और वाक्यों की कुछ विचित्र ही व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं, ऐसा कुछ नहीं है, जिसे मौलिक कहा जा सकता है।

ब्रह्मलीन रामकृष्ण परमहंस तो संन्यासी के कहीं बहुत अधिक दिलचस्प नमूने थे। वे केवल एक यथार्थ महात्मा ही नहीं थे, अपितु मौलिक विचार वाले व्यक्ति थे। भारतीय साहित्य सूक्तियों और बोधकथाओं से भरा हुआ है, और मात्र उनको दुहराकर ही कोई गहन पाण्डित्य का खिताब पा सकता है। पर रामकृष्ण के साथ ऐसा नहीं था। उन्होंने अपने निभृत वासस्थान में संसार पर गहराई से ध्यान किया था। यह कहना कठिन है कि वे बहुत पठित व्यक्ति थे या नहीं, पर वे निस्सन्देह वेदान्तदर्शन के भाव से पूरी तरह स ओत-प्रोत थे। उनके जो वचन प्रकाशित हुए हैं, वे उस दर्शन के भावोच्छ्वास से भरे हुए हैं; उनको केवल वैदान्तिक भूमि की उपज के रूप में देखने पर ही समझा जा सकता है। फिर भी यह विस्मयकारी है कि कैसे यूरोपीय विचार, यही नहीं बल्कि एक यूरोपीय शैली, जो कि भारतीय विचारकों से नितान्त भिन्न है, इस भारतीय सन्त के आप्तवचनों में प्रविष्ट दिखाई देती है।..

रामकृष्ण के जो कुछ उपदेश उनके शिष्यों द्वारा

उनकी 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका में प्रकाशित हुए हैं, उनके कुछ उद्धरणों को देखने पर पता चलता है कि ये प्राचीन रूपक पहली बार यूरोपीय विचारों से मिलित हुए हैं; और जो सब हमें उनके व्यक्तिगत प्रभाव के बारे में पता चलता है, उसमें यह भी है कि इस मेल का उस विशाल श्रोतृसमूह पर बड़ा ही जोरदार प्रभाव पड़ता था, जो उन्हें सुनने के लिए आता था। वे अपने पीछे कुछ शिष्य छोड़ गये हैं, जो उनकी हाल में मृत्यु के बाद उनके द्वारा शुरू किये गये कार्य को आगे बढ़ा रहे हैं तथा जो भारत में ही नहीं बल्कि यूरोप में भी भारत के उस प्राचीन दर्शन के प्रति लोगों की सहानुभूतिपूर्ण रुचि को पाने की कोशिश कर रहे हैं, जिस रुचि का प्लेटो या काण्ट के दर्शन के समान ही यह दर्शन पूर्णतः अधिकारी है।...

इस महात्मा के जीवन के परिवेशों के बारे में विश्वसनीय जानकारी प्राप्त करना सरल काम नहीं था, क्योंकि यद्यपि उनके भीतर का मनोजगत् आलोड़नकारी घटनाओं से भरा था, तथापि उनका जीवन बाहरी संसार के सन्दर्भ में एकदम घटनारहित ही कहा जा सकता है।...

ब्राह्मसमाज के नेता प्रतापचन्द्र मजूमदार, जो इँग्लैण्ड में कई लोगों से परिचित हैं, मुझे बतलाते हैं कि कैसे इन महात्मा ने केशवचन्द्र सेन पर, स्वयं अपने ऊपर और कलकत्ता के अति उच्च शिक्षित बहुत से लोगों पर असाधारण प्रभाव डाला था। लगभग बीस तरुण जिनका उनके प्रति अधिक घनिष्ठ रूप से लगाव था, उनकी मृत्यु के बाद गृहत्यागी हो गये हैं। वे लोग

काम-कांचन की आसक्तियों को त्यागकर उनके उपदेशों का पालन करते हुए पास के एक मठ में एक साथ रहते हैं और कभी-कभी भारत के सुदूर पवित्र और निर्जन स्थानों में, यहाँ तक कि हिमालय की कन्दराओं में, चले जाते हैं। हमें यह भी बतलाया गया है कि इन पूतात्माओं के अलावा ऐसे बहुत से लोग हैं, जो अपने परिवारों के साथ उनके सन्देश में गहरी आस्था रखते हैं। परन्तु सबसे मजेदार बात यह है कि महात्मा ने केशवचन्द्र सेन पर उनके जीवन के अन्तिम दौर में सबसे अधिक प्रभाव डाला। केशवचन्द्र के बहुत से मित्रों और प्रशंसकों ने यह आश्चर्य से देखा कि शान्त सुधारक अपने जीवन के अन्तिम दिनों में अचानक ही एक रहस्यवादी और भावविभोर सन्त में बदल गये हैं। किन्तु केशवचन्द्र के 'नव विधान' के इस परवर्ती विकास ने, और विशेषकर ईश्वर के मातृत्व के सिद्धान्त ने, भले ही उनके अनेक यूरोपीय मित्रों को उनसे दूर कर दिया हो, उसने हिन्दू समाज में तो उनकी लोकप्रियता पर्याप्त मात्रा में बढ़ा दी। जो हो, अब हम उन छिपे हुए प्रभावों को समझने में समर्थ हैं, जिन्होंने इस प्रकार अचानक परिवर्तन साधित कर ब्राह्मसमाज के इस प्रसिद्ध संस्थापक के जीवनवृत्त में ऐसा उल्लेखनीय व्यतिक्रम ला उपस्थित किया था, जिसे कि कभी-कभी अतिशय उत्तेजित मस्तिष्क के भंग का परिणाम कहा गया है।

रामकृष्ण के साथ बात निराली है। वे संसार में कभी फिरे नहीं, न ही वे संसार के व्यक्ति थे--उस अर्थ में भी नहीं, जिसमें केशवचन्द्र सेन थे। वे एकदम प्रारम्भ से ही योग की घोरतम साधना में लगे दिखाई

देते हैं, जो समाधि और भावविभोर उद्‌गारों को पैदा करने के लिए की जाती है। हम वह सब पूरी तरह नहीं समझ पाते, पर अपने महात्मा के सन्दर्भ में हम उस सबकी सत्यता पर सन्देह नहीं कर सकते, और केवल दर्शक हो आश्चर्य भर प्रकट कर सकते हैं कि जो बहुतसा हमें भंगस्वास्थ्य तन और अतिश्रान्त मन की उपज दिखाई देता है, उसमें कैसे बहुतसा सत्य है, शिव है और सुन्दर है।...

उनकी धार्मिक भावोत्तेजना की अवस्था को ऐसे विचारशील पर्यवेक्षकों ने बारम्बार देखा है, जिनकी मानसिक अवस्था असाधारण थी। वह वस्तुतः हमारे नींद में बात करने जैसी कोई बात है, अन्तर यह है कि उस अवस्था में मन धार्मिक विचारों तथा शुभ एवं पावित्र्य के उदात्ततम भावों से छलकता रहता है, जिसका परिणाम वह है जो हमें रामकृष्ण में दिखाई देता है। वह कोई सम्मोहन में पड़कर अर्थहीन बड़बड़ाहट नहीं है, अपितु सुन्दर काव्यमय भाषा में लिपटे गहरे पाण्डित्य का स्वतःस्फूर्त विस्फोट है। उनका मन मोतियों, हीरों और नीलमों को एक साथ मिलाकर निरुद्देश्य हिलाये गये एक बहुमूर्तिदर्शी (Kaleisdoscope) के समान है, जो हर बार बहुमूल्य विचारों को ही पैदा करता है—ऐसे विचार जो सुस्पष्ट और सुन्दर हैं। निस्सन्देह, हमारे कानों में उनकी शिक्षाओं और उपदेशों का बहुत-सा भाग अनोखा लगता है, पर पूर्वी कानों को नहीं, अथवा उन कानों को नहीं जो पूर्व की ओजस्वी कविता के अभ्यस्त हैं। सब कुछ उनके मन में जाकर पवित्र हो गया प्रतीत होता है। मेरी समझ में भारत में लोक-

प्रिय काली-पूजा के समान बीभत्स और कुछ नहीं है। रामकृष्ण के लिए काली में जो कुछ घृणास्पद है उसका मानो अस्तित्व ही नहीं है—उनके लिए है केवल देवी का मातृभाव। उनका काली के प्रति उपास्यभाव ऐसा है, जिसमें ईश्वर के मातृत्व के प्रति शिशुवत्, समूचे मन-प्राणों के साथ, उल्लासमय आत्मसमर्पण है—वह मातृत्व जो नारी की शक्ति और प्रभाव का प्रतिनिधित्व करता है। उस सन्त ने दीर्घकाल से नारी का उसके स्वाभाविक भौतिक रूप में परित्याग कर दिया था। उनके पत्नी थी, पर उससे उनका कभी दैहिक सम्पर्क नहीं हुआ। वे कहा करते, "नारी मोहित कर लेती है और संसार को ईश्वर की भक्ति से दूर रखती है।" उन्होंने दीर्घकाल तक नारी के प्रभाव से अपने को अछूता रखने की कड़ी साधना की। इस साधनाकाल में जब वे नदी के तट पर कभी-कभी हृदयविदारक प्रार्थना करते हुए व्याकुल होकर जोरों से चिल्ला उठते, तो लोगों की भीड लग जाती, जो उनके रोने के साथ जोरों से रो उठते और अपने समूचे हृदय के साथ उन्हें अपनी साधना में सफल होने का आशीर्वाद देने से अपने को न रोक पाते। और वे सफल हुए, फलस्वरूप उनकी माता भगवती काली ने, जिसकी वे प्रार्थना करते, उन्हें दिखा दिया कि हर नारी उसका ही रूप है और इस प्रकार उन्हें तरुणी या वृद्धा—नारीमात्र को अपनी ही माँ के समान सम्मान देने में समर्थ बना दिया। अपनी एक प्रार्थना में वे कहते हैं—"ओ माँ जगदम्बे, मुझे मनुष्य से मान नहीं चाहिए, मुझे देह-सुख नहीं चाहिए; मैं बस यही चाहता हूँ कि मेरी आत्मा मुझमें उसी

प्रकार आकर मिल जाय, जैसे गंगा और यमुना का संगम में नित्य मिलन है। माँ, मुझमें भक्ति नहीं है, मैं योग नहीं जानता; मैं निर्धन हूँ और मित्रहीन हूँ। मैं किसी की प्रशंसा नहीं चाहता, बस यही चाहता हूँ कि मेरा मन तेरे पादपद्मों में सदा लगा रहे।" उनमें सबसे असाधारण बात तो यह थी कि उनका धर्म मात्र हिन्दू देवी-देवताओं की उपासना एवं हिन्दू परम्पराओं के शुद्धीकरण तक ही सीमित नहीं था। उन्होंने लम्बे समय तक सर्वशक्तिमान् अल्लाह के मुसलमानी भाव की अनुभूति के लिए विविध प्रकार की साधना की। उन्होंने दाढ़ी बढ़ा ली, मुसलमानी ढंग का भोजन करते और कुरान से लगातार आयतें दुहराते रहते। ईसा के लिए उनकी श्रद्धा गहरी और सच्ची थी। ईशु का नाम सुनते ही वे सिर को झुकाते, ईश्वरतनय के सिद्धान्त के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते, और दो-एक बार वे गिरजाघर की उपासना में भी सम्मिलित हुए। उन्होंने घोषणा की कि उपासना की हर प्रणाली उनके लिए व्यक्तिगत धर्म का जीवन्त और सबसे उत्साहित करनेवाला तत्त्व थी। वास्तव में उन्होंने यह दिखाया कि कैसे संसार के हर धर्म की केवल अच्छाई को देखते हुए——सत्य के लिए कष्ट भोगनेवाले, ईश्वर में अपने विश्वास और मनुष्यों के लिए अपने प्रेम के कारण दुःख सहनेवाले हर व्यक्ति के प्रति सच्ची श्रद्धा व्यक्त करते हुए——संसार के सभी धर्मों को जोड़ना सम्भव है। उन्होंने लिखकर तो कुछ नहीं छोड़ा, पर उनके वचन उनके मित्रों की स्मृति में जीवित हैं। वे न तो गुरु कहलाना पसन्द करते, न किसी नये सम्प्रदाय का संस्थापक। "मैं इस

अशान्त संसार की धारा में एक कमजोर, आधा डूबे हुए काठ के समान बहता चला जा रहा हूँ। यदि मनुष्य अपना जीवन बचाने मुझे आकर पकड़ेंगे तो फलस्वरूप वे अपने को तो बचा ही नहीं पाएँगे, मुझे भी डुबो देंगे। गुरुओं से सावधान!"[१]

मुझे भलीभाँति विदित है कि उनके कुछ कथन हमारे कानों में बड़े अजीब-से, यहाँ तक कि अप्रिय भी लगेंगे। उनकी ईश्वर की जगन्माता सम्बन्धी धारणा हमें चौंका दे सकती है, पर जब हम उनके कथन को पढ़ते हैं तो समझ पाते हैं कि रामकृष्ण का अपनी उस धारणा का वास्तविक अर्थ क्या था—"ईश्वर-प्रेमी देवता को 'माता' कहकर सम्बोधित करने में ऐसे सुख का अनुभव क्यों करता है? इसलिए कि शिशु अपनी माता के पास अधिक स्वच्छन्द होता है, फलस्वरूप वह अन्य किसी की अपेक्षा शिशु के लिए अधिक प्रिय होती है।"

रामकृष्ण ने ज्ञान और ईश्वर-प्रेम के रहस्यों की कैसी गहराइयाँ नापी थीं यह उनके इस दूसरे कथन से दिखाई देता है—"ज्ञान और ईश्वर-प्रेम अन्ततोगत्वा एक और समान हैं। शुद्ध ज्ञान और शुद्ध प्रेम में कोई अन्तर नहीं है।"

उनके निम्नलिखित उपदेश भी उनके विश्वास की उदात्तता को प्रकट करते हैं—"मैं सच कहता हूँ, जो ईश्वर के लिए व्याकुल होता है, वह उसे पाता है।"

---

१. 'The Nineteenth Century' पत्रिका के अगस्त १८९६ अंक में प्रकाशित लेखक के 'A Real Mahatman' लेख से।

"जिसके विश्वास है, उसके पास सब कुछ है। जो विश्वास चाहता है, वह सब कुछ चाहता है।" "जब तक कोई शिशु के समान सरल नहीं होता, उसे दिव्य ज्ञान नहीं प्राप्त होता। जो भी संसारी ज्ञान तुमने प्राप्त किया है, वह सब भूल जाओ और एक शिशु के समान उसके सम्बन्ध में अज्ञ बन जाओ, और तब तुम्हें सत्य का ज्ञान प्राप्त होगा।" "साधक का बल किसमें है?—उसके अपने आँसुओं में। जैसे माता अपने रोते हुए विकल बच्चे की इच्छा पूरी करना स्वीकार लेती है, वैसे ही ईश्वर अपनी रोती हुई सन्तान को आश्वासन देता है कि वह जिसके लिए रो रही है, वह उसे प्राप्त होगी।" "जैसे दिया तेल के बिना नहीं जल सकता, वैसे ही मनुष्य ईश्वर के बिना नहीं रह सकता।" "ईश्वर सब मनुष्यों में है, पर सब मनुष्य ईश्वर में नहीं हैं—इसीलिए वे कष्ट भोगते हैं।"

इन उद्धरणों से हमें पता चलता है कि यद्यपि प्रकृति एवं मानवात्मा में ईश्वर की यथार्थ उपस्थिति का बोध उतने प्रबल और उतने सार्वभौम रूप से और कहीं नहीं हुआ जैसा कि भारत में और यद्यपि ईश्वर के प्रति उच्छलित प्रेम—यही नहीं, बल्कि परमेश्वर में पूर्णतः तल्लीन हो जाने के बोध ने रामकृष्ण की उक्तियों को छोड़ और कहीं भी उतनी सशक्त और व्यंजनात्मक अभिव्यक्ति नहीं प्राप्त की, फिर भी वे उन व्यवधानों से पूरी तरह परिचित थे, जो ईश्वरीय और मानवीय स्वभाव को अलग करते हैं।

यदि हम यह स्मरण करें कि रामकृष्ण की ये उक्तियाँ मात्र उनके अपने विचारों को ही हमारे सामने

नहीं रखती हैं, अपितु कोटि-कोटि मानवों की श्रद्धा और आशा को प्रकट करती हैं, तब तो हम सचमुच उस देश के भविष्य के सम्बन्ध में आशावान् हो सकते हैं। मनुष्य में ईश्वरत्व की विद्यमानता की चेतना वहाँ है और सभी इसे स्वीकार करते हैं, यहाँ तक कि वे भी जो मूर्तियों को पूजते दिखाई देते हैं। ईश्वर की उपस्थिति का यह सतत बोध वास्तव में ऐसी सामान्य भूमि है, जिस पर अनतिदूर भविष्य में हम उस भावी विशाल मन्दिर के निर्माण की आशा कर सकते हैं, जिसमें हिन्दू और गैर-हिन्दू उसी एक परमेश्वर की उपासना के निमित्त अपने हृदय और हाथों को जोड़कर एक होंगे। वह परमेश्वर हमसे कोई दूर नहीं है, क्योंकि उसी में हम रहते और चलते हैं तथा हमारा अस्तित्व ही उसी में है।[२]

(२)

रोमाँ रोलाँ

मेरे पश्चिमी पाठकों के प्रति

...मैं उन्हें (रामकृष्ण को) आपके समक्ष एक नयी पुस्तक के रूप में नहीं अपितु एक अत्यन्त प्राचीन पुस्तक के रूप में प्रस्तुत करता हूँ, जिसे आप सबने पढ़ने की चेष्टा की है (यद्यपि बहुत से लोग वर्ण के पास ही रुक गये)। अन्ततोगत्वा वह हरदम सदैव से वही पुस्तक है, केवल लिखने का तरीका बदलता रहता है।...

२. 'Ramakrishna : His Life and Sayings' (Advaita Ashrama, Mayavati, 1951), Preface, vii-ix.

वह हरदम सदैव से वही 'पुस्तक' है। सदैव से वही 'मनुष्य' है—वही 'मनुष्य का पुत्र' है, शाश्वत, हमारा 'पुत्र', हमारा फिर से जनमा भगवान्। अपने हर नव आगमन के साथ वह अपने को कुछ अधिक पूरी तरह प्रकाशित करता है और विश्व के द्वारा अधिक समृद्ध होता है।

देश और काल के अन्तर को छोड़ देने पर रामकृष्ण ईसामसीह के ही छोटे भाई हैं।...

मैं यूरोप के निकट, उसके लिए अभी भी अपरिचित, नव शरद ऋतु का फल लाकर प्रस्तुत कर रहा हूँ—ला रहा हूँ आत्मा का एक नव सन्देश, भारत का वह स्वरैक्य, जिसका नाम रामकृष्ण है। यह दिखाया जा सकता है (और हम संकेत करने से चूकेंगे नहीं) कि यह स्वरैक्य, हमारे स्वरशास्त्र के प्रणेताओं के ही समान, अतीत से निकलनेवाले एक शत विभिन्न स्वरों के मेल से बना है। वह जो विशिष्ट व्यक्तित्व अपने में इन विभिन्न स्वरलयों को एकाग्र कर उन्हें एक शाही समन्वय का रूप प्रदान करता है, हरदम वही उस स्वरैक्य को अपना नाम दिया करता है, भले ही उसके पीछे पीढ़ियों की साधना निहित रहती है। और वह अपने विजय-चिह्न के साथ एक नये युग की सूचना दिया करता है।

जिस व्यक्ति का चित्र मैं यहाँ प्रस्तुत करना चाहता हूँ, वह तीस करोड़ लोगों के दो सहस्र वर्ष के आध्यात्मिक जीवन का परिपूर्ण रूप था। यद्यपि उसकी मृत्यु हुए चालीस वर्ष हो चुके हैं, फिर भी उसकी आत्मा आधुनिक भारत को प्राणवन्त करती है। वह गाँधी के

समान कर्मक्षेत्र का कोई हीरो नहीं था, गेटे या टैगोर के समान कला या चिन्तन का कोई जीनियस नहीं था। वह तो बंगाल के एक छोटे से गाँव का सामान्य-सा ब्राह्मण था, जिसका बाहरी जीवन अपने युग की राज-नीतिक और सामाजिक गतिविधियों की परिधि से बाहर एक सीमित साँचे में ढला हुआ था, जिसमें कोई उल्लेखनीय घटना नहीं थी। किन्तु उसके भीतरी जीवन ने मानव और देवताओं की समूची बहुलता को अपने में लपेट लिया था। वह उस दैवी शक्ति के उत्स का ही एक भाग था, जिसके गीत मिथिला के पुराने कवि विद्यापति तथा बंगाल के रामप्रसाद ने गाये थे।

बहुत कम लोग ही उत्स की ओर वापस जाते हैं। अपने हृदय के सन्देश को सुनते हुए बंगाल के इस सामान्य से व्यक्ति ने आभ्यन्तरीण सागर का पता पा लिया था। और वहाँ उसका गठबन्धन हो गया था, जिससे उपनिषदों के ये शब्द प्रमाणित हो गये थे— "मैं द्योतनवान् देवताओं की अपेक्षा भी अधिक प्राचीन हूँ। मैं उस ब्रह्म से प्रथम जात हूँ। मैं अमृतत्व की धमनी हूँ।"

मेरी इच्छा है कि उस धमनी के धड़कने की आवाज को मैं ताप-तप्त यूरोप के कानों तक ले जाऊँ, जिसने नींद की हत्या कर दी है। मैं उसके ओठों को अमरत्व के रक्त से गीला करना चाहता हूँ।[3]

३. 'The Life of Ramakrishna' (Advaita Ashrama, Calcutta, 1979), pp. 11-14.

(३)

अर्नाल्ड जे. टायन्बी

श्रीरामकृष्ण का सन्देश अपूर्व था, क्योंकि वह क्रियाओं के माध्यम से मुखरित हुआ था। वह सन्देश ही हिन्दुत्व का शाश्वत सन्देश था . . . । हिन्दू दृष्टिकोण में, उच्चतर धर्मों में से प्रत्येक एक सही दर्शन है और सम्यक् पथ है, और वे सभी समान रूप से मानवजाति के लिए अनिवार्य हैं, क्योंकि प्रत्येक उसी एक सत्य की अलग झलक देता है तथा अलग रास्ते से मानव-प्रयत्नों के उसी एक लक्ष्य की ओर ले जाता है। अतएव प्रत्येक का अपना एक विशेष आध्यात्मिक महत्त्व है, जो अन्य किसी दूसरे में प्राप्त नहीं होता।

इसको जानना अच्छा है, पर पर्याप्त नहीं है। धर्म मात्र अध्ययन की वस्तु नहीं है; वह ऐसा है, जिसकी अनुभूति करनी होती है और जिसे जीना होता है। यही वह क्षेत्र है, जिसमें श्रीरामकृष्ण ने अपनी अपूर्वता प्रदर्शित की। उन्होंने एक के बाद एक भारतीय धर्म और दर्शन के लगभग हर रूप की साधना की, और फिर इसलाम तथा ईसाइयत को भी साधा। वास्तव में, उनकी धार्मिक क्रियाशीलता और अनुभूति की व्यापकता ऐसी थी, जो अन्य किसी भी धार्मिक प्रतिभा के द्वारा, न तो भारत में और न अन्यत्र ही, सम्भवतः कभी हासिल की गयी थी। जगन्माता के रूप में ईश्वर के सगुण रूप के प्रति उनकी जो भक्ति थी, उसने 'अखण्ड एकरस चैतन्य' की उपलब्धि में—निरपेक्ष आध्यात्मिक सत्ता के साथ पूर्णतः तादात्म्य में—उन्हें बाधा नहीं दी।

इस आणविक युग में समग्र मानवजाति का इस

भारतीय पद्धति का अनुसरण करने हेतु एक स्वार्थपूर्ण उद्देश्य है और अन्य कोई भी स्वार्थपूर्ण उद्देश्य इससे बली अथवा अधिक मान्य नहीं हो सकता। मानवजाति का अस्तित्व ही संकट में है। फिर भी सबसे प्रबल एवं सबसे मान्य स्वार्थपूर्ण उद्देश्य भी रामकृष्ण, गाँधी और अशोक के उपदेश को अपनाने तथा तदनुरूप आचरण करने के लिए एक गौण कारण ही होगा। मुख्य कारण है कि यह उपदेश सही है—और इसलिए सही है कि वह आध्यात्मिक सत्ता के सही दर्शन से निःसृत होता है।[४]

(४)

लेरॉय एस. राउनर

श्रीरामकृष्ण उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय सन्त और अनुभवी महापुरुष थे, जिन्होंने हिन्दू, बौद्ध, ईसाई एवं इसलाम धर्मों के सन्दर्भ में ईश्वर की साक्षात और अपरोक्ष अनुभूति की।...

श्रीरामकृष्ण धार्मिक घटनावादी के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण थे। घटनावाद वस्तुतः प्रेम का प्रक्रियावाद है। वह 'न्यू टेस्टामेंट' (बाइबिल) में बताये गये उस सिद्धान्त का व्यावहारिक क्रियान्वयन है, जिसमें जीवन को सही मायने में पाने के लिए उसे पड़ोसी के लिए और ईसा के नाम में खोने का निर्देश दिया गया है। इसका मतलब यह है कि न तो धार्मिक साम्राज्यवाद

४. स्वामी घनानन्द : 'Sri Ramakrishna and His Unique Message' (Ramakrishna Vedanta Centre, London, 1970), Foreword, pp. vii-ix.

का आक्रमण और न धार्मिक कट्टरता का बचाव अन्तर्धर्म-सम्बन्धों के प्रति कोई सही ईसाई दृष्टिकोण हो सकता है। जब हम धार्मिक रूप से अनजान अपने पड़ोसी के सन्दर्भ में प्रेम की प्रक्रिया की बात करते हैं, तो इसका मतलब यह है कि हमें अपना स्वयं का दृष्टिकोण, यहाँ तक कि अपने विश्वासों और निष्ठाओं को भी, ताक में रख देना चाहिए और उस अपरिचित पड़ोसी के जीवन और संसार और विश्वासों को अपनाना चाहिए। इस सन्दर्भ में उस सतत अभिव्यक्तमान सत्य को पा लेना सम्भव है, जिसके बारे में ईसा ने वचन दिया था कि 'पवित्रात्मा' हमें वहाँ ले जाएगा। और केवल इसी सन्दर्भ में उस प्राचीन ईसाई घोषणा के पूरे अर्थ को समझना सम्भव होगा, जिसमें कहा गया है कि ईश्वर ने किसी भी युग अथवा किसी भी मानवसमुदाय में अपने को बिना साक्षियों के नहीं छोड़ा है।...

श्रीरामकृष्ण की कहानी में...हमारे ईसाई बन्धुओं को उस एक ही सत्यस्वरूप ईश्वर की प्रामाणिक आत्मा कार्यरत मिलेगी, जहाँ वे इस हिन्दू पड़ोसी/अजनबी के साथ भीतरी वार्तालाप में लगे होंगे। इस मिलने और जानने के बीच हो सकता है वह आत्मा हमें ऐसे किसी नये सत्य की ओर ले जाय, जो अभी भी खोजा नहीं गया है।...[५]

●

५. क्लॉड एलान स्टार्क : 'God of All', pp. xv-xvii.